॥ श्रीहरिः ॥

56▲

मानव-जीवनका लक्ष्य

GITA PRESS, GORAKHPUR

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

मानव-जीवनका लक्ष्य

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

हनुमानप्रसाद पोद्दार

नम्र निवेदन

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके लेखोंका यह एक सुन्दर चयन आपकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। ये लेख समय-समयपर 'कल्याण'में प्रकाशित हुए हैं। इस संग्रहमें विभिन्न आध्यात्मिक विषयोंके साथ-साथ अतिशय उपादेय ठोस सामग्रीका समावेश हुआ है।

व्यक्तिके जीवनका प्रभाव सर्वोपरि होता है और वह अमोघ होता है। श्रीभाईजी अध्यात्म-साधनकी उस परमोच्च स्थितिमें पहुँच गये थे, जहाँ पहुँचे हुए व्यक्तिके जीवनसे जगत्का, परमार्थके पथपर बढ़ते हुए जिज्ञासुओं एवं साधकोंका मंगल होता है। हमारा विश्वास है कि जो व्यक्ति इन लेखोंको मननपूर्वक पढ़ेंगे एवं अपने जीवनमें उनकी बातोंको उतारनेका प्रयत्न करेंगे, उनको परमार्थपथमें निश्चय ही विशेष सफलता प्राप्त होगी।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

॥ श्रीहरिः ॥

मानव-जीवनका लक्ष्य

मानव-जीवनका लक्ष्य—भगवत्प्राप्ति

भगवान्‌ने कहा है—'माया बड़ी दुस्तर है। इस मायासे कोई भी सहजमें पार नहीं हो सकता, परंतु मेरे शरणापन्न व्यक्ति इस मायासे तर जाते हैं।' भगवान्‌के अतिरिक्त जो कुछ भी है—असत् है, माया है और उसको जीवनसे निकालना है। भगवान्‌के शरणापन्न होनेपर जीवनमेंसे यह मिथ्यापन निकल सकता है। मानव-जीवनमें यही एकमात्र करनेयोग्य कार्य है। मानव-जीवनका यही एकमात्र कर्तव्य और उद्देश्य है।

धनकी प्राप्ति चाहनेवाला मनुष्य जैसे स्वाभाविक ही क्षुद्र-सी भी धनहानिके प्रत्येक प्रसंगसे बचता है और लाभका प्रत्येक कार्य करता है; वह ऐसा इसीलिये करता है कि पैसेके रहने और मिलनेमें अपना लाभ मानता है और जानेमें या न रहनेमें हानि; इसी प्रकार भगवान्‌का भजन करनेवाला पुरुष भजन होनेमें लाभ तथा न होनेमें हानि मानता है। इसलिये वह स्वाभाविक ही वही करता है जिससे भजन बनता और बढ़ता है, वह ऐसा कार्य कभी नहीं करता, जिससे भजन नहीं बनता या घट जाता है।

हम सभी आत्यन्तिक सुख चाहते हैं। ऐसा सुख चाहते हैं जो अनन्त हो, परंतु मोहवश चाहते वहाँसे हैं, जहाँ सुख है नहीं। अथवा उससे, जो सुखका बहुत बड़ा स्वाँग तो बनाये हुए है, पर है दुःखसे पूर्ण। जहरसे भरी हुई मिठाई मीठी लगती है निस्संदेह, पर वह मारनेवाली ही होती है। जहरका ज्ञान न होनेसे या ज्ञान होनेपर भी स्वादके लोभसे

लोग उसे खा लेते हैं। मीठी है तो क्या; उसका घातक प्रभाव तो होगा ही। भोग-जगत् भी ठीक ऐसा ही है। इसीलिये भगवान्‌ने इन्द्रिय-भोगोंको भोगकालमें अमृतके समान और परिणाममें विषके सदृश मारनेवाला बताया है। '**यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।**' '**परिणामे विषमिव.....।**' भगवान्‌ने तो इस भोग-जगत्‌को '**असुखम्**', '**दुःखालयम्**' और '**दुःखयोनयः**' कहा है। अर्थात् यह जगत् सुखरहित है, अनित्य है और वस्त्रालय, विद्यालय, औषधालयकी तरह 'दुःखोंका आलय' है और 'दुःखयोनि'—दुःखोंकी उत्पत्तिका स्थान है। इस सुखरहित, दुःखालय तथा दुःखोंके क्षेत्र-जगत्‌से सुख-प्राप्तिकी आशा करके, केवल आशा ही नहीं, आस्था रखकर, हम उसके लिये रात-दिन प्रयत्नशील रहते हैं। यह हमारा बड़ा भारी मोह है। यह आशा, यह आस्था, यह कल्पना वैसे ही मिथ्या है, जैसे जहरको मिटानेके लिये जहरका प्रयोग; अन्धकारको निकालनेके लिये दीपकका बुझा देना। तेलकी आशासे बालूको कितना ही पेरा जाय, बालू काजल-सी महीन होकर उड़ सकती है, पर तेल नहीं मिलेगा। इसीलिये नहीं मिलेगा कि उसमें तेल है ही नहीं। जो चीज जहाँ नहीं है, वहाँसे उस वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सुखरहित भोग-जगत्‌से सुखकी प्राप्ति असम्भव है। दुःखालय और दुःखयोनि जगत्‌से सुखकी आशा ही अज्ञान है—मोहान्धकार है।

जगत्‌से सुख-प्राप्तिकी दुराशामें जीव सतत जगत्‌का चिन्तन करता है और अपने अंदर अनवरत गंदा कूड़ा भरता चला जाता है। मनुष्यकी अन्तरात्मा जलती रहती है। जागतिक ऐश्वर्यसे परिपूर्ण, सुख-सुविधाओंसे सम्पन्न धनी-मानी लोग भी जलते हैं, उच्च राज्याधिकारी और उद्भट विद्वान् भी जलते हैं, शान्तिकी बात करनेवाले उपदेशक और तर्कशील दार्शनिक भी निरन्तर जलते हैं। बड़ी शान्तिके स्थानपर या अत्यन्त शीतप्रधान देशमें अथवा बिजलीके द्वारा ठंडे किये कमरेमें बैठे रहनेपर भी सदा जलते रहते हैं। वह आग बाहर नहीं भीतर है, जो हमेशा जलाती

रहती है। बाहरके किसी साधनसे भीतरकी आग शान्त नहीं हो सकती। भीतरकी इस आगको श्रीतुलसीदासजीने 'याचकता' कहा है। विषयोंके मनोरथकी आगसे—इस 'कामज्वर' से सभी संतप्त हैं। बाहरी चीजोंको बदलने या मिटाने-हटानेसे क्या होगा? जो चीज जला रही है, उसीको जला देना चाहिये। इस याचकताको—भोग-कामनाको भगवान्ने गीतामें 'ज्वर' का नाम दिया है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३। ३०)

'युद्ध करो, परंतु तीन वस्तुओंसे छूटकर। राज्य तथा भोगोंकी आशा छोड़कर, देह तथा देह-सम्बन्धी सारी ममता छोड़कर और कामनाके ज्वरको उतारकर।' कामना रहेगी तो अंदर-ही-अंदर ज्वर बढ़ेगा।

इसीलिये गोस्वामीजीने कहा—'जगत्में किसीसे याचना मत करो; माँगना ही हो तो भगवान् श्रीरामसे माँगो और श्रीरामको ही माँगो। भगवान्को माँगनेका अर्थ ही है—भगवान्की प्राप्ति। सारी शान्ति—सारा सुख भगवान्में ही है; अन्यत्र कहीं है ही नहीं। इसीलिये भगवान्से भगवान्की ही याचना करो—

जग जाँचिय कोउ न जाँचिय जो जिय जाँचिय जानकि जानहि रे।
जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाय जो जारत जोर जहानहि रे॥

भोगोंकी कामना और कामनाकी सिद्धिसे सुखकी प्राप्ति—यह मूर्खता है। यह कभी सम्भव नहीं। भगवान्की कृपासे ही शरणागति या ज्ञानकी प्राप्ति होगी। तभी दुःखका नाश और सुखकी प्राप्ति होगी। भोग-कामनाकी अग्नि प्रचण्ड है। विषयोंके सेवनसे, बहुत-से भोगोंसे इसकी शान्ति नहीं होती। अग्निमें जितना ही ईंधन-घृत पड़ेगा, उतनी ही अग्नि भभकेगी। इसीलिये भगवान्ने इस 'कामना' को 'महाशन' कहा—इसका पेट कभी भरता ही नहीं।

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी तें।

अशान्तिसे कभी शान्ति मिल नहीं सकती। चाहे कोई स्वीकार करे या न करे, भोगोंसे सुख मिल नहीं सकता; भले, थोड़ी देरके लिये कोई उसे भूलसे सुख मान ले। भ्रमवशात् सुखके भवन भगवान्‌को भूलकर लोग भोगोंका ही रात-दिन चिन्तन करते हैं। भोग-सम्बन्धी बातें सुनते-कहते—मनन करते हैं और उसी गंदगीको अपने अंदर भरते चले जाते हैं।

इससे छूटनेके लिये शास्त्रोंने बड़ी सुन्दर युक्ति बतायी है। जो बीत गया, उसपर कोई अधिकार नहीं। 'वर्तमान' साधकके हाथमें है। मनरूपी गोदाममें अबतक जो कूड़ा भरा गया, सो भरा गया। अब उसमें अभीसे भगवद्भावोंको, भगवत्प्रीति-उत्पादक शुभ कर्मोंको भरते जायँ। शुभ कर्मोंकी तीव्र सुवास कूड़ेकी दुर्गन्धको दबा देगी और अपनी सुवास फैला देगी।

वर्तमानको सुधार लें तो भविष्य अपने-आप सुधरेगा और भूतकालका भय भी मिट जायगा। हम जो कुछ भी अच्छा-बुरा कर्म करते हैं, उसकी स्फुरणा पहले मनमें होती है। स्फुरणा संस्कारोंसे होती है और उन संस्कारोंसे होती है जो वर्तमानके नये कर्मोंके होते हैं। जैसे गोदाममेंसे माल निकालना हो तो पहले वह निकलता है जो सबसे ऊपर या सबसे आगे नया भरा हुआ है; इसी प्रकार वर्तमानमें शुभ कर्म करनेपर शुभ संस्कार होंगे, शुभ संस्कारोंसे शुभ स्फुरणा होगी, शुभ स्फुरणासे फिर शुभ कर्म होगें—इस प्रकार शुभका एक चक्र बन जायगा। शुभ तथा सुन्दर भावोंका साम्राज्य हो जायगा; जो सारे पिछले अशुभ संस्कारोंको दबा लेगा या पीछे ठेल देगा। जिस गोदाममें अबतक लहसुन-प्याज भरा गया, उसमें अब कस्तूरी, कपूर भरना आरम्भ कर दे। गंदी वस्तुको नवीन सुवासित वस्तु पूर्णतः आच्छादित कर लेगी। मनमें पहले उठनेवाली गंदी स्फुरणाएँ तथा संस्कार शान्त हो जायँगे। और यदि कहीं शुभ कर्मोंका

परिणाम बढ़ गया तथा उनमें निष्कामभाव आ गया एवं ज्ञानाग्नि प्रकट हो गयी—कपूर अत्यधिक मात्रामें इकट्ठा हो गया और कहीं दियासलाई लग गयी तो गोदामके नीचे तथा पीछेके भले-बुरे, केसर, लहसुन आदि सभी पदार्थ—शुभ-अशुभ सभी कर्म दग्ध हो जायँगे। भगवान् श्रीकृष्णने (गीता ४। ३७ में) कहा है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

'ज्ञानाग्निके प्रज्वलित होते ही सारे शुभ-अशुभ कर्म भस्म हो जाते हैं।' अतः साधकको वर्तमानमें अत्यन्त तत्परताके साथ तुरंत भगवत्-साधनामें लग जाना चाहिये।

जागतिक राग-द्वेषकी चर्चा, भोगोंकी बातचीत मल है—विष है। जहाँतक हो सके, अपनी ओरसे इसकी अनावश्यक चर्चा ही नहीं करनी चाहिये। बोलना अपने अधीन है, सुनना अपने अधीन नहीं। दूसरे जो बोलें, उसे सुनना ही पड़ता है। परंतु यदि मन अन्यत्र लगा रहे, तो श्रवण भी नहीं होगा, सुनकर भी अनसुना रहेगा। अतः वर्तमानमें अपनी सारी इन्द्रियोंको भगवान्‌में समर्पित कर दे। इसमें सावधानीकी आवश्यकता है। साधनाका अर्थ सावधानी है। गिरनेसे आदमी बचता रहे। निरन्तर उठनेकी चेष्टा करता रहे—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

(गीता ६। ५)

आत्माको कभी गिरावे नहीं। जहाँ भगवच्चर्चा हो, वहाँ मन लगाकर सुनना चाहिये और जहाँ जगच्चर्चा हो, वहाँ सुनना बंद कर दे। कवि ठाकुरने ठीक ही कहा है—

कान न दूसरो नाम सुनै नहिं एकहि रंग रँगो यह डोरो।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़े रसना मुख डारि हलाहल बोरो॥
ठाकुर प्रीतिकी रीति यही हम सपनेहु टेक तजै नहिं भोरो।
बावरि वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो॥

दुधमुँहे जहर-भरे घड़ेके समान जगत्‌के बाहरी गोरेपनको जो आँखें देखती हैं, उनका तो जल जाना ही उचित है। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने प्रतिज्ञा कर ली—'कानसे दूसरी बात सुनूँगा नहीं और जीभसे दूसरी बात करूँगा नहीं। आँखोंको दूसरी चीज देखनेसे रोक दूँगा और मेरा सिर वहीं नमित होगा, जहाँ भगवान् दिखलायी देंगे—

स्त्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गइहौं।
रोकिहौं नैन बिलोकत औरहिं सीस ईस ही नइहौं॥

इसे आदर्श मानकर जहाँतक बने, संसारकी उतनी ही बात सुननी चाहिये, जितनी आवश्यक हो। अन्य बातोंको न सुने, न कहे और न उसमें रुचि ले। परापवादसे, परनिन्दा एवं परस्तुतिसे बचना चाहिये। भागवत-माहात्म्यमें आया है—

अन्येषु दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा............।

दूसरोंके गुण-चिन्तन करनेसे आसक्ति होगी और दोष-चिन्तन करनेसे द्वेष होगा। ये दोनों ही जगत्‌में बन्धनकारक हैं। अतः गुण और दोष दोनोंका ही चिन्तन न किया जाय। यदि न रहा जाय तो दूसरेके गुण देखे और अपने दोष देखे। जिसे दूसरेके दोष तथा अपने गुण दिखलायी नहीं देते, वह भाग्यवान् व्यक्ति है और जिसे दिखलायी देते हैं वह मन्दभागी है। वह मन्दभागी दूसरेके दोषोंको देखकर अपनेमें दोषोंका ही संग्रह करता है।

हम जो कुछ देखते-सुनते, कहते, सूँघते, स्पर्श करते तथा विचार करते हैं, वही हमारे मनमें निवास करता है। यदि मनमें भगवान्‌को बसाना है तो भगवान्‌को ही देखना-सुनना-समझना चाहिये। जैसा हमारा मन है, वैसा ही हमारा स्वरूप है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(गीता १७। ३)

सिनेमा देखते समय पर्देपर सारा संसार दिखायी देता है, पर पकड़नेपर हाथमें नहीं आता। इसी प्रकार यह संसार जो दीखता है, वह दीखता भर है—मिलता नहीं—

'न तथा उपलभ्यते।'

इसीलिये कि यह मायाका राज्य है। अज्ञानकी कल्पना है। इसमें मनको फँसा लेना मूर्खता है। पढ़ा या बेपढ़ा, जो भी फँसता है, वह मूर्ख ही है। अपठित मूर्खता करता है, परंतु उसमें श्रद्धाके सहज जाग जानेकी सम्भावना है। अतः वह राहपर आ सकता है। किंतु शिक्षित मूर्ख तो प्रायः वज्रमूर्ख होता है। शिक्षितकी मति बिगड़नेपर वह असुर हो जाता है। '**साक्षराः**' का उलटा '**राक्षसाः**' होता है। भोगासक्त साक्षरके जीवनमें पैशाचिकताका ताण्डव नृत्य होता रहता है। लाखों नर-नारियोंको एक ही साथ जला देनेवाले बमोंके आविष्कारक विज्ञानवेत्ता विद्वान् ऐसे ही असुर-मानव हैं। पिछले दिनों चीनमें अपने ही मतके एक विपक्षीकी लाशको लोग भूनकर खा गये! यही राक्षसत्व है।

यह निश्चित बात है कि जहाँ पापमें गौरव-बुद्धि होती है— पापकी सराहना होती है, वहाँ पाप बढ़ता है। जिसके पास पैसा आ गया, वह पैसा चाहे चोरीसे आया हो या लूटसे अथवा अनाचार-भ्रष्टाचार-अत्याचार तथा हिंसासे—उस पैसेवालेको यदि समाजके द्वारा 'बड़ा' माना जाता है और उसका सम्मान होता है तो दूसरे लोग भी वैसा ही 'बड़ा' बनना चाहते हैं। सिनेमाकी अभिनेत्री जो एक साधारण स्तरकी अभिनय करनेवाली, नाचनेवाली स्त्री है, उसको देखनेके लिये भीड़ लग जाती है। इस भीड़में प्रोफेसर भी शामिल होते हैं, अधिकारी भी। यह सब क्या है? चोर-पूजा होनेपर चोरी और अनाचार-पूजा होनेपर अनाचारका ही विस्तार होगा। यह पतनकी सीमा है, तामसी बुद्धिका प्रत्यक्ष परिचय है, जिसमें अनाचारको सदाचार, बुराईको भलाई और पापको पुण्य समझा जाता है।

दूसरेके हकका लेना, दूसरेको अभावग्रस्त बनाकर वस्तुका संग्रह करना पाप है। गीता (३। १३) में कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

'यज्ञसे शेष (सबको सबका हिस्सा देकर) बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं; पर जो केवल अपने (भोगके) लिये पकाते (कमाते) हैं वे पाप खाते हैं। सारे जगत्‌को उसका हिस्सा देकर शेषान्न खानेवालेको अपने यहाँ 'अमृताशी' कहा गया है।' श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

'जितने धनसे प्राणियोंकी उदरपूर्ति हो, उतनेपर उसका अधिकार है। जो इससे अधिकपर अपना स्वत्व मानता है, वह चोर है; उसे दण्ड मिलना चाहिये।' ये शब्द लेनिनके या मार्क्सके नहीं या आधुनिक युगके नहीं, प्राचीन भारतके महान् ग्रन्थ भागवतमें देवर्षि नारदके हैं। जिस देशमें लाखों लोग भूखों मरें वहाँ बड़े-बड़े भोज हों, यह पाप है। सबको खानेको, पहननेको और रहनेको मिलना चाहिये। उसके भाग्यमें बदा नहीं है—इसीलिये वह अभावसे ग्रस्त है—यह उसके माननेकी बात है। समाजके माननेकी नहीं, सम्पन्न लोगोंके माननेकी नहीं। जो सम्पन्न हैं वे अभावग्रस्तोंको दें। अपने लिये कंजूस बनकर दूसरोंके लिये उदार बनें। धन किसीके पास रहेगा नहीं। सम्पत्तिका या तो सदुपयोग होगा या वह चली जायगी। सम्पत्तिमान्‌की सम्पत्ति गरीबोंसे ली हुई उधार है—ऐसा मानकर उस ऋणको ब्याजसमेत चुकाना प्रत्येक ईमानदार सम्पत्तिमान्‌का कर्तव्य है।

सम्पत्ति और जागतिक भोगका चिन्तन करनेसे दुर्गति होगी।

अन्तकालमें जैसी मति, वैसी गति होती है। जीभके स्वादवश किसी खाद्य-पदार्थका चिन्तन करते हुए मरनेसे किसी टोकरीका कीड़ा और साड़ीका चिन्तन करते हुए मरनेपर किसी कपड़ेका कीट बनना पड़ेगा। अतः बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है। जगत्के भोगोंको ललचायी दृष्टिसे न देखे। निरन्तर भगवान् याद रहें।

भोग भगवान्के महत्त्वको घटाते हैं, अतः जीवनमें भोगोंकी स्मृतिको न आने दें। भक्त श्रीहरिदासजीके पास वेश्या गयी। परंतु श्रीहरिदासजीका व्रत था—तीन लाख नामजपका। न नामजपसे फुरसत मिली और न वेश्यासे बातचीत हो सकी। भगवान्से और भगवान्के कामसे मनको, वाणीको, चित्तको फुरसत नहीं मिलने दे। जागतिक विषय अपने-आप कम हो जायँगे। भोगसे जितना ही छूटे और भगवान्में जितना ही लगे, उतना ही मंगल है।

अपने सर्वस्वको अपने समेत भगवान्के समर्पण कर दे, यही भगवान्की शरणागति है। जो भगवान्के शरणागत होता है, वही मायासे तरता है। भगवदीय प्रकाशके आते मायाका अन्धकार नष्ट हो जाता है। साधकको चाहिये कि अपनेको निरन्तर भोगोंसे बचाये रखे तथा भगवान्में लगाये रखे। मन, वाणी और शरीरको सदा भगवान्से संयुक्त रखे। इसीमें साधककी बुद्धिमानी है। साधक भगवान्की कृपापर भरोसा रखे, दिन-रात भगवान्के अनुकूल आचरण करे, पर अपने पुरुषार्थका अभिमान कभी न करे और रात-दिन अपने इस लक्ष्यको याद रखे—जीवनका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है।

साधनाके दो प्रकार

साधनाएँ दो प्रकारकी होती हैं। एक होती है किसी बाहरी प्रेरणासे की जानेवाली कर्तव्यरूपा और दूसरी होती है अन्त:प्रेरणासे होनेवाली सहज। प्रथम प्रकारकी साधना विवेकपूर्ण होती है, विवेकसापेक्ष होती है और दूसरे प्रकारकी साधना विवेकातीत होती है, विवेक-निरपेक्ष होती है।

अन्त:प्रेरणासे होनेवाली साधनाके क्षेत्रमें कभी-कभी ऐसी भी स्थिति होती है, जिसमें ऐसी बात नहीं रहती कि साधक अपने किसी कामको या साधनको सोच-विचारकर करे।

इस स्थितिका दर्शन श्रीचैतन्य महाप्रभुके जीवनमें मिलता है। जब उन्होंने घर छोड़ा, उसके पहलेकी बात है। उन्हें श्रीकृष्णकी पुकार सुनायी दी। उन्होंने कहा—'मुझको श्रीकृष्ण पुकार रहे हैं।' वे समझदार थे और लोगोंने उनको समझाया, पर उनको तो श्रीकृष्णकी पुकार सुनायी देती थी। उन्होंने कहा—'अब तो श्रीकृष्णकी पुकार-ही-पुकार सुनायी देती है, अब और कुछ नहीं। बस, अब उधर ही जाना है।' फिर कोई विचार या विवेक या और कोई चीज उन्हें रोक नहीं सकी। गृह-त्यागके बाद भी यह पुकार सुनायी दी थी। यही हाल सिद्धार्थका हुआ।

गोपांगनाओंने वंशीध्वनि सुनी और उनकी विचित्र स्थिति हो गयी। उस समयकी उनकी स्थितिके चित्रको देखें। कानोंमें वंशीकी ध्वनि सुनायी पड़ी। बस, उनके भय, संकोच, धैर्य, मर्यादा आदि सबको छीन लिया उसने उसी क्षण। वे उन्मत्त हो गयीं। वह एक ऐसी चीज थी, जिसने सब चीजोंको भुला दिया। वह एक अन्तर्नाद था। उनको यह भी याद नहीं रहा कि जीवनमें क्या करना है? उस समय उनके द्वारा जो व्यावहारिक कार्य हो रहे थे, सारे-के-सारे कार्य ज्यों-के-त्यों

स्थगित हो गये। उसका वर्णन करते हुए भागवतकार कहते हैं कि हाथका ग्रास हाथमें ही रह गया; एक आँख आँजनेके बाद दूसरी आँख आँजनेसे रह गयी; शरीरमें अंगराग चन्दन लगा रही थी, वह अधूरा ही रह गया; वस्त्र पहनना आरम्भ किया, पर जितना जैसे पहना गया, उतना वैसे ही पहना गया; छोटे-छोटे बच्चोंको स्तन पिलाना आधेमें ही छूट गया और पतियोंकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थी, वह वैसे ही रह गयी। एक-दूसरीसे कुछ कहते भी नहीं बना। सब चल पड़ीं बड़े वेगसे।

वह पुकार, वह ध्वनि कुछ ऐसी आकर्षक थी, कुछ ऐसी अनन्यता लानेवाली थी कि उसने सर्वस्वका सहज त्याग करवा दिया। इस स्थितिमें यह बात नहीं रह जाती कि किसी चीजको विवेकपूर्वक त्याग करना है या वैराग्यसे त्याग करना है अथवा विवेकपूर्वक किसी चीजको प्राप्त करनेके लिये सोच-समझकर जाना है। साधनाकी यह बहुत ऊँची स्थिति है; जो भगवत्कृपासे ही सुलभ होती है।

दूसरे प्रकारकी साधना विवेकपूर्ण होती है। विवेकपूर्ण साधनामें संसारके भोगोंको दुःखदायी, बन्धनकारक और अज्ञानकी वस्तु मानकर छोड़ा जाता है। भगवत्प्राप्तिका महत्त्व, उसका गौरव, उसके लाभ, परमानन्दकी प्राप्ति, बन्धनोंका कट जाना, मोक्षकी उपलब्धि, जन्म-मरणके चक्करसे छुटकारा आदि बातोंसे आकृष्ट, आश्वस्त और आस्थावान् होकर साधक साधनारूढ़ होता है। यह साधना भी बहुत ऊँची चीज है, पर यह साधना सविवेक है, वैराग्यपूर्ण है।

पर दूसरे प्रकारकी साधना ऐसी एक स्थिति होती है, जहाँ न विवेकका प्रवेश है और न वैराग्यको स्थान है। पर ये दोनों ही बलात् उसके साथ छिपे-छिपे लगे ही रहते हैं। वास्तवमें वहाँ जीवनमें एक स्वाभाविक गति है। एक ऐसी स्वाभाविक गति, जिसमें कोई प्रयास नहीं। सागरोन्मुखी गंगाकी धाराकी तरह कोई भी तनिक भी प्रयास

नहीं। गंगाकी धाराकी सागरकी ओर स्वाभाविक गति है। रास्तेमें आनेवाले बाधा-विघ्न अपने-आप टूटते चले जाते हैं। बड़ी बाधा आनेपर गंगाकी धारा उसके बगलसे निकल जाती है, पर वह रुकती नहीं। रुकना चाहिये नहीं, इसीलिये कि गतिमें स्वाभाविकता है। किधरसे बहना चाहिये, कहाँ जाना चाहिये, जानेपर समुद्रसे मिलकर क्या होगा, क्या मिलेगा—इन सब प्रश्नोंको गंगाकी धारा नहीं जानती। समुद्रकी ओर उसकी सहज स्वाभाविक गति है। इसी प्रकारकी एक स्थिति साधनामें होती है। इस स्थितिकी ओर संकेत करनेके लिये गोपांगनाओंका उदाहरण दिया जाता है।

सांसारिक लोग उन परमोच्च स्तरपर स्थित गोपियोंको बहुत नीचे उतार लाते हैं और उनकी पावन-पावन प्रेमचेष्टाओंमें सांसारिकता देखते हैं। भोगकी कल्पना करते हैं। पर यह भोग-जगत्—यह भौतिक संसार तो बहुत नीचे रह जाता है। संसारके आगेके दिव्य लोक जिसे छू नहीं सकते, मोक्षकी संज्ञाका जहाँ अस्तित्व नहीं है। और-तो-और भगवान्को ढूँढ़नेकी भी जहाँ आवश्यकता नहीं रह जाती, वह गोपांगनाओंका विशुद्धतम प्रेम-जगत् है।

जहाँतक श्रुति-प्रतिपाद्य साधन है, वहाँतक श्रुतियोंका अनुसंधान है। परंतु श्रुतियोंके द्वारा भगवान्की प्राप्ति नहीं होती। श्रुतियाँ जिनको खोज रही थीं, पर जिनको श्रुतियोंने नहीं पाया, उन भगवान् मुकुन्दको—श्रीकृष्णको गोपांगनाओंने साक्षात् भजा, प्रत्यक्ष उनका सेवन किया। '**भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।**' प्रेमकी साधनामें गोपियाँ आदर्श हैं। नारदजी पुकारते हैं—'**यथा व्रजगोपिकानाम्।**'

अन्तःप्रेरणासे होनेवाली इस साधनामें न विवेक है, न वैराग्य है; न विवेकका त्याग है, न वैराग्यका त्याग है। साथ ही न विवेककी आवश्यकता है और न वैराग्यकी। इस स्थितिकी साधनामें एक

स्वाभाविक गति है, उसका एक स्वाभाविक स्वरूप है। यह स्वरूप जब कभी किसीके जीवनमें आता है, वह धन्य है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके जीवनमें इस तरहकी बात मिलती है। श्रीचैतन्य महाप्रभुका पहले नाम था श्रीनिमाई पण्डित। श्रीनिमाई पण्डित न्यायके प्रकाण्ड पण्डित थे। न्याय चलता ही है तर्कपर, न्यायका अर्थ ही है तर्कद्वारा किसी वस्तुको सिद्ध करना। श्रीनिमाई पण्डित न्यायके इतने बड़े पण्डित थे कि बड़े-बड़े दिग्गज न्याय-शास्त्री शास्त्रार्थमें उनसे पराजित हो चुके थे। अवस्था कम होनेपर भी श्रीनिमाई पण्डित नवद्वीपके सर्वोपरि नैयायिक थे। दूर-दूरसे बड़ी-बड़ी उम्रवाले प्रौढ़ विद्वान् युवक श्रीनिमाई पण्डितके पास पढ़नेके लिये आया करते थे। श्रीनिमाई पण्डितके गुरुजी भी नवद्वीपमें ही थे, पर वे विद्वान् गुरुजीके पास न जाकर श्रीनिमाई पण्डितके पास ही पढ़नेके लिये आया करते थे।

ऐसे श्रीनिमाई पण्डित गया गये और गयामें भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंका दर्शन करके वहीं उनका जीवन पलट गया। उनकी साधना बिलकुल पलट गयी। गयासे लौटकर नवद्वीप आये और पूर्वाभ्यासवशात् पाठशाला गये। पढ़नेके लिये आये हुए विद्यार्थियोंने प्रणाम किया तथा पढ़ानेके लिये प्रार्थना की। श्रीनिमाई पण्डित बोले—

राम राघव राम राघव राम राघव रक्ष माम्।
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम्॥

विद्यार्थियोंने यही समझा कि सम्भवतः यह मंगलाचरण है। थोड़ी देर बाद फिर विद्यार्थियोंद्वारा पाठ पढ़ाये जानेकी प्रार्थना किये जानेपर श्रीनिमाई पण्डितने फिर वही दोहरा दिया और कहा—'पाठ ही तो दे रहा हूँ।' विद्यार्थियोंने जाकर गुरुजी आचार्य श्रीगंगादासजीसे वस्तुस्थितिका निवेदन कर श्रीनिमाई पण्डितजीको समझानेके लिये प्रार्थना की।

गुरुजीने श्रीनिमाई पण्डितको बुलाकर पूछा—'क्या तुम्हारे द्वारा ऐसा हुआ है?' श्रीनिमाई पण्डितने कहा—'हाँ।' गुरुजीने समझाते हुए कहा—'अब ठीकसे पढ़ाना।' श्रीनिमाई पण्डितने कहा—'हाँ, प्रयत्न करूँगा। पर मैं क्या करूँ, मेरे वशकी बात नहीं है। पर प्रयत्न कैसे हो? चित्तकी तो दशा ही बदल गयी। यह परिवर्तन अपने-आप ही हुआ था, विवेकजनित तो था नहीं।' फिर वही कीर्तन चला। वे विद्वान् विद्यार्थीगण लौट आये और फिर बादमें निराश होकर अपने-अपने घर वापस चले गये। श्रीनिमाई पण्डितके कीर्तनमें ऐसी मत्तता होती, वायुमण्डलपर उसका ऐसा प्रभाव होता कि जो भी समीपसे निकलता, वही नाचने लगता। अतः नवद्वीपके पण्डितोंने उस मार्गसे निकलना बंद कर दिया। इतना प्रभाव उस स्वाभाविक कीर्तनका पड़ा।

ऐसी स्थितिमें भगवान्‌के प्रति सर्वस्व सहज ही समर्पित हो जाता है। ऐसी ही स्थिति थी—ओरछाके श्रीहरिरामजी व्यासकी। श्रीव्यासजी शास्त्रोंके प्रकाण्ड पण्डित थे। जहाँ जाते, ग्रन्थोंके छकड़े साथ-साथ चलते। कोई भी शास्त्रार्थमें उनके सामने टिक नहीं पाता था। पर जब जीवनमें परिवर्तन आया तो सारा कुछ बदल गया। सारी पोथियाँ छूट गयीं। निर्ग्रन्थ हो गये। सारी ग्रन्थियाँ वस्तुतः टूट गयीं और वृन्दावनमें वास किया। एक बार श्रीओरछा-नरेशजीने श्रीव्यासजीको बुलाया। वे नहीं गये तो उनको बुलानेके लिये अपने दीवानजीको भेजा। दीवानजीको आया हुआ देखकर श्रीव्यासजीको बड़ी ही वेदना हुई। वृन्दावनसे जाना न पड़े, अतः श्रीव्यासजी एक-एक पेड़ और एक-एक लतासे लिपट-लिपटकर रोने लगे। सबसे कहने लगे—'देखो भाई! मुझे छोड़ना मत'। उनकी जाने लायक स्थिति नहीं देखकर श्रीदीवानजी यों ही लौट आये।

यह साधनाकी एक स्थिति है जो अपने-आप होती है। बनानेसे नहीं होती। भगवत्कृपासे ही ऐसी स्थिति जीवनमें अभिव्यक्त होती है।

परंतु यह स्थिति भगवत्कृपासे वहीं व्यक्त होती है, जहाँ भूमिका तैयार रहती है। हर जगह तो व्यक्त होती नहीं। अतः इस भूमिकाके लिये प्रस्तुत होना है।

यह सदा ध्यानमें रखनेकी बात है कि मनुष्यका जीवन कदापि—कदापि भोगके लिये नहीं है। भोगके लिये मनुष्य-जीवन है—इस संकल्पको मनसे सर्वथा ही उठा देना चाहिये। यह बिलकुल भ्रम है और अज्ञान है। पाप है। मानव-जीवन एक बहुत बड़ी निधि है और इसको खो देना बहुत बड़ा अपराध है। यह अपराध भगवान्‌के प्रति है।

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

भगवान्‌की दी हुई परम कृपापूर्ण सुविधाको जो अपने प्रमादसे हटा देते हैं, वे इस कृपा-प्रसादका तिरस्कार करते हैं और भगवान्‌के प्रति बड़ा अपराध करते हैं। इसीलिये वे आत्महत्यारे हैं।

मनुष्य-जीवनका लक्ष्य भोग है, इस भावनाका पूर्णतः परित्याग कर देना चाहिये। भोगके महत्त्वके मनसे निकलते ही बहुत-सी झंझटें अपने-आप मिट जाती हैं। निन्दा-स्तुति, मान-अपमान—यह सब केवल अपनी मान्यताकी बात है। इसी बखेड़ेमें हमारा सारा जीवन बीत रहा है। देश या जाति या विश्वके नामपर जो भी उधेड़-बुन चलती है, है तो वह भौतिक जीवनको लेकर ही और भौतिकतामें कभी सफलता मिलती नहीं। प्रकृतिके विस्तारका अन्त नहीं है। भोगकी आकांक्षा चाहे व्यक्तिके लिये हो या समष्टिके लिये हो, यदि किसी जीवनमें है, तो असफलता ही हाथ लगेगी। तृष्णा कभी समाप्त होती नहीं। थोड़ा पानेवालेका थोड़ा बाकी रहता है और ज्यादा पानेवालेका ज्यादा बाकी रहता है।

भोग-जीवनमें आस्था और भोग-जीवनकी लिप्सा ही सारे अनर्थोंकी जड़ है। इसमेंसे हम सभीको निकलना है। जो निकल गया, वह निकल

गया। जो निकला नहीं, उसे निश्चित—निश्चित पछताना पड़ेगा। इसमें कोई संदेह नहीं। चाहे किसीकी समझमें आवे या न आवे, समझमें आकर स्वीकार करे या न करे, पर सत्य कभी असत्य हो नहीं सकता। मनुष्य-जीवनको प्राप्त करके जो भगवत्प्राप्तिके प्रयासमें नहीं लगा, उसको अवश्यमेव पछताना पड़ेगा।

इस अवसरके हाथसे निकल जानेपर क्या बचेगा। अतः जीवनमें मोड़ लाना है। भोगोंकी ओर उन्मुख जीवनको भगवान्‌की ओर लगाना है। भगवान्‌के सम्मुख होना है। गति मन्द हो तो कोई बात नहीं। एक ही पग आगे बढ़ पाये तो कोई चिन्ता नहीं, पर भोगोंको पीठ देकर भगवान्‌की ओर बढ़ना है। भगवान्‌की ओर हम मुख करेंगे तो भगवान् हमारी ओर मुख करेंगे। भगवान्‌की ओर हम चलेंगे तो भगवान् हमारी ओर चलेंगे। परंतु हम चलेंगे अपनी चाल और भगवान् चलेंगे अपनी चाल। भगवान्‌ने पहुँचनेका संकल्प किया तो उनको पहुँचते क्या देर लगेगी? भगवान्‌के संकल्पमें संकल्प, संकल्पानुसार कार्य और कार्यकी सिद्धि—तीनों एक साथ होती हैं। इसीलिये उनका नाम सत्य-संकल्प है। भगवान्‌की ओर मुख होनेसे भगवान्‌के मिलनेमें विलम्ब नहीं होगा।

भगवान्‌की ओर सम्मुख होनेकी कसौटी क्या है? बिलकुल सीधी बात है। भोग सुहाये नहीं। भोगोंसे विमुख होनेपर वे सुहायेंगे कैसे? यदि भोग सुहाते हैं तो हम उनके सम्मुख हैं। भोगोंके सम्मुख और भगवान्‌के विमुख होनेसे सुख और शान्ति नहीं मिल सकती है।

राम बिमुख सपनेहुँ सुख नाहीं।

वे लोग अभागे हैं जो भगवान्‌का परित्याग करके विषयोंसे अनुराग करते हैं।

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

सौभाग्यशाली कौन है? जो विषयोंका वमनवत् परित्याग कर देता है और श्रीहरिके चरणकमलोंसे अनुराग करता है।

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

भोगोंसे विमुखता और भगवान्‌की ओर सम्मुखता, यहींसे मानवकी मानवताका आरम्भ होता है। अतः सभीको भगवत्साधनामें लगना चाहिये। जो लगे हैं, उनकी सहायता करनी चाहिये।

साधनामें लगे हुए किसीको कभी हतोत्साहित नहीं करना चाहिये; क्योंकि असली काम तो वही कर रहा है। साधनामें हतोत्साहित करना पाप है।

साधक संसारकी परवा नहीं करे। सांसारिक हानि कोई हानि नहीं है। संसारमें होनेवाली हानिकी चिन्ता न करे। सांसारिक हानिकी, लौकिक मान-अपमानकी किसी प्रकारके अभावकी परवा न करे और साधक अपनी साधनामें लगा रहे। जगत्‌के लोग तिरस्कार कर सकते हैं। जगत्‌के लोग उसी साधुका अधिक आदर करते हैं, जिसके आशीर्वादसे और अधिक भोगोंके प्राप्त होनेकी सम्भावना हो। वैराग्यके नामपर विरक्त भगवत्प्रेमी साधु-संतोंका आदर करनेवाले लोग बहुत थोड़े होते हैं। जगत्‌के भय और प्रलोभनोंसे अत्यन्त उपरत होकर सतत साधना करता रहे। भगवान्‌की अखण्ड स्मृति बनी रहे। सर्वोत्तम यही है कि जगत्‌की स्मृति हो ही नहीं। इस विवेकपूर्ण साधनामें सतत संलग्न रहनेसे ही उस भूमिका निर्माण होता है, जहाँ भगवत्कृपासे उस दिव्य साधन-स्थितिकी अभिव्यक्ति होती है; जो विवेकातीत है और पूर्णतः निरपेक्ष है। जिस स्थितिके प्राप्त होनेपर जीवन धन्य हो जाता है, कुल पवित्र होता है, जननी कृतार्थ होती है और धरती धन्य होती है तथा वह इतना पवित्र हो जाता है कि उसके जीवनमें पवित्रताकी धारा बह निकलती है जो जगत्‌के पाप-तापग्रस्त प्राणियोंको शीतल-शान्तिका पान कराकर धन्य करती है।

मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य

महात्मा श्रीचरणदासजीने एक जगह लिखा है—एक नगर था। उस नगरमें ऐसी प्रथा थी कि एक वर्ष पूरा हो जानेपर उस नगरके राजाको गद्दीसे उतार दिया जाता था और नये राजाको बैठाया जाता था। पुराने राजाको नावमें बैठाकर नदीपार भीषण वनमें अकेला छोड़ दिया जाता था। प्रतिवर्ष इस प्रकार होता था। यों कई मनुष्य राजा बने और वर्ष पूरा हो जानेपर जंगलमें जाकर दुःख भोगने लगे। एक वर्षतक राज्य-सुख-भोगमें वे इतने आसक्त रहते थे कि उन्हें एक वर्ष बाद क्या स्थिति होगी इसकी याद ही नहीं रहती थी।

एक बार इसी नियमानुसार एक मनुष्यको राजगद्दी मिली। वह बहुत बुद्धिमान् था। उसने गद्दीपर बैठते ही पूछा—'यह कितने दिनोंके लिये है?' कर्मचारियोंने बताया—'एक वर्षके लिये है'। उसने पूछा—'फिर क्या होगा?' उसको बताया गया कि 'एक वर्ष पूरा होनेके बाद आपसे यह राज्यसत्ता छीन ली जायगी। आपकी सारी सम्पत्ति, यहाँतक कि वस्त्र भी उतार लिये जायँगे। केवल एक धोती पहने आपको नदीके उस पार बीहड़ वनमें अकेले जाना पड़ेगा। नाववाले आपको वहाँ उतारकर लौट आयेंगे। यही यहाँकी सनातन प्रथा है।' यह सुनकर उसने सोचा कि 'एक वर्ष तो बहुत है। इतने समयमें तो सब कुछ किया जा सकता है।' उसने राज्यका भार हाथमें लिया और सावधानी तथा ईमानदारीसे न्यायपूर्वक वह प्रजापालन करने लगा, पर एक वर्षकी अवधिको नहीं भूला। उसने अपने व्यक्तिगत सुखोंकी कुछ भी परवा नहीं की। नाच-मुजरे, अभिनन्दन-सम्मान, मौज-शौक, खेल-तमाशे आदि व्यर्थके कार्य सब बंद कर दिये और यह आदेश दे दिया कि 'नदीपारका जंगल काटकर वहाँ बस्ती बसायी जाय। नगर बने। प्रचुर

मात्रामें साधन-सामग्री तथा काम करनेवाले योग्य पुरुष वहाँ भेज दिये जायँ। वर्ष पूरा होनेके पहले-पहले वहाँ सब व्यवस्था ठीक हो जाय।'

इस प्रकार आदेश देकर वह अपना काम सँभालने लगा। राज्य-सुख भोगनेमें उसने अपना समय नष्ट नहीं किया। किंतु एक वर्ष बाद उसे दुःख भोगना न पड़े और सब सुख-सुविधा बनी रहे, इसके लिये वह प्रयत्न करता रहा। एक वर्षकी अवधिमें वहाँ जंगलकी जगह एक छोटा-सा सुन्दर देश बस गया। सब सामग्रियाँ वहाँ सुलभ हो गयीं। एक वर्ष पूरा हो जानेके बाद उसको गद्दीपरसे उतार दिया गया। वह तो हँस रहा था। उसको किसी बातकी चिन्ता न थी। वह जब नावमें चढ़कर हँसता हुआ नदीपार जाने लगा, तब नाविकोंने पूछा—'और वर्ष तो जो लोग जाते थे, सभी रोते थे; आप कैसे हँस रहे हैं?' उसने कहा—'भाई ! वे लोग एक वर्षतक राज्य-सुख भोगते रहे, मौज-मजे करते रहे, विषयानन्दमें निमग्न रहे। उन्होंने भविष्यका विचार नहीं किया। इसीसे वे रोते गये परंतु मैं सावधान था। मैं बराबर विचार करता रहा कि एक वर्षके बाद तो यह राज्य तथा यहाँका सब कुछ छोड़कर जाना पड़ेगा। इसलिये मैंने सारे व्यर्थ कार्य रोक दिये, सारे व्यक्तिगत आमोद-प्रमोद बंद कर दिये और एक वर्षके बादकी स्थिति सँभालनेके लिये प्रयत्न करता रहा। अब मुझे कोई चिन्ता नहीं है; क्योंकि एक वर्षकी राज्यसत्ताका मैंने पूरा लाभ उठा लिया है। इसीलिये मैं हँस रहा हूँ।'

यह एक दृष्टान्त है। सिद्धान्तमें यह समझना चाहिये कि हमको यह देव-दुर्लभ मानव-शरीर एक नियत समयके लिये ही मिला है। नियत समय पूरा होनेपर यह हमसे छीन लिया जायगा और इसके सारे साज-सामान भी यहीं छूट जायँगे। जबतक जीवनका यह नियत काल पूरा न हो जाय, तभीतक मानव-जीवनका पूरा लाभ उठा लेना चाहिये। भगवान्‌का सतत स्मरण करना चाहिये और संसारके प्राणी-पदार्थोंमें

मोह न रखकर, यहाँके भोगोंसे विरक्त और उपरत रहकर, पवित्र निष्पाप जीवन बिताते हुए इन्द्रिय-संयमपूर्वक सबमें भगवद्भाव रखकर सबकी सेवा करनी चाहिये, जिससे दुःख न उठाना पड़े। जीवन क्षणभंगुर है। पता नहीं, कब मृत्यु आ जाय।

एक भ्रमर सायंकालके समय एक कमलपर बैठकर उसका रस पी रहा था। इतनेमें सूर्यास्त होनेको आ गया। सूर्यास्त होनेपर कमल संकुचित हो जाता है। अतः कमल बंद होने लगा, पर रसलोभी मधुप विचार करने लगा—अभी क्या जल्दी है, रातभर आनन्दसे रसपान करते रहें—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त ! हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार॥

'रात बीतेगी। सुन्दर प्रभात होगा। सूर्यदेव उदित होंगे। उनकी किरणोंसे कमल पुनः खिल उठेगा, तब मैं बाहर निकल जाऊँगा।' वह भ्रमर इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि हाय ! एक जंगली हाथीने आकर कमलको डंडीसमेत उखाड़कर दाँतोंमें दबाकर पीस डाला। यों उस कमलके साथ भ्रमर भी हाथीका ग्रास बन गया। इस प्रकार पता नहीं, कालरूपी हाथी कब हमारा ग्रास कर जाय। मृत्यु आनेपर एक श्वास भी अधिक नहीं मिलेगा। मृत्युकाल आनेपर एक क्षणके लिये भी कोई जीवित नहीं रह सकता। उस समय कोई कहे कि 'मैंने वसीयतनामा (Will) बनाया है। कागज (Document) तैयार है। केवल हस्ताक्षर करने बाकी हैं। एक श्वास अधिक मिल जाय तो मैं सही कर दूँ।' पर काल यह सब नहीं सुनता। बाध्य होकर मरना ही पड़ता है। यह है हमारे जीवनकी स्थिति। अतएव मानव-जीवनकी सफलताके लिये संसारके पदार्थोंसे ममता उठाकर भगवान्‌में ममता करनी चाहिये। तुलसीदासजी कहते हैं—

तुलसी ममता राम सों समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख दास भये भव पार॥

हम प्राणी-पदार्थोंमें ममता बढ़ाते हैं, पर यह ममता स्वार्थमूलक है। स्वार्थमें जरा-सा धक्का लगते ही यह ममता टूट जाती है, इसीलिये भगवान् कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विभीषणसे कहते हैं— 'माता, पिता, भाई, स्त्री, शरीर, धन, सुहृद्, मकान, परिवार—सबकी ममताके धागोंको सब जगहसे बटोर लो।' ममताको धागा इसलिये कहा गया है कि उसे टूटते देर नहीं लगती। फिर उन सबकी एक मजबूत डोरी बट लो। उस डोरीसे अपने मनको मेरे चरणोंसे बाँध दो।' अर्थात् मेरे चरण ही तुम्हारे रहें, और कुछ भी तुम्हारा न हो। सारी ममता मेरे चरणोंमें ही आकर केन्द्रित हो जाय। ऐसा करनेसे क्या होगा? देखो—

अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

ऐसे सत्पुरुष मेरे हृदयमें वैसे ही बसते हैं, जैसे लोभीके हृदयमें धन। अर्थात् लोभीके धनकी तरह मैं उन्हें अपने हृदयमें रखता हूँ। अतः संसारके प्राणी-पदार्थोंसे ममता हटाकर एकमात्र भगवान्‌में ममता करनी चाहिये।

भगवान् और भोगमें बड़ा भारी अन्तर है। उनके स्वरूप, साधन और फलके बारेमें मैं आपको सात बातें बताता हूँ—

१—भगवान्‌की प्राप्ति इच्छासे होती है। इसमें कर्मकी अपेक्षा नहीं, अतः यह सहज है।

भोगोंकी प्राप्तिमें कर्मकी अपेक्षा है। प्रारब्धकर्मके बिना चाहे जितनी प्रबल इच्छा की जाय, भोग नहीं मिलते।

२—भगवान् एक बार प्राप्त हो जानेपर कभी बिछुड़ते नहीं।

भोग बिना बिछुड़े रहते नहीं। उनका वियोग अवश्यम्भावी है, चाहे भोगोंको छोड़कर हम मर जायँ।

३—भगवान्‌की प्राप्ति जब होती है, पूरी ही होती है; क्योंकि भगवान् नित्यपूर्ण हैं।

भोगोंकी प्राप्ति सदा अधूरी होती है; क्योंकि भोग कभी पूर्ण हैं ही नहीं।

४—भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा होते ही पापोंका नाश होने लगता है।

भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा होते ही पाप होने लगते हैं।

५—भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधनामें ही शान्ति मिलती है।

भोगोंको प्राप्त करनेकी साधनामें अशान्ति बढ़ जाती है।

६—भगवान्‌का स्मरण करते हुए मरनेवाला सुख-शान्तिपूर्वक मरता है।

भोगोंमें मन रखते हुए मरनेवाला अशान्ति और दुःखपूर्वक मरता है।

७—भगवान्‌को स्मरण करके मरनेवाला निश्चय ही भगवान्‌को प्राप्त होता है।

भोगोंमें मन रखकर मरनेवाला निश्चय ही नरकोंमें जाता है।

इन सात भेदोंको समझकर मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌का भजन ही करे। भगवान्‌का भजन नित्य, अखण्ड और पूर्ण शान्ति देनेवाला है। सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण बना रहे, इसलिये समस्त कार्य भगवत्सेवाके भावसे करने चाहिये तथा सब भूतप्राणियोंमें भगवद्भाव करना चाहिये और सबको मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये। यह बहुत ही श्रेष्ठ साधन है। जिससे भी हमारा व्यवहार पड़े, उसीमें भगवद्भाव करे। न्यायाधीश समझे कि अपराधीके रूपमें भगवान् ही मेरे सामने खड़े हैं। उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करे और उनसे मन-ही-मन कहे कि 'इस समय आपका स्वाँग अपराधीका है और मेरा

न्यायाधीशका। आपके आदेशके पालनार्थ मैं न्याय करूँगा और न्यायानुसार आवश्यक होनेपर दण्ड भी दूँगा। पर प्रभो ! न्याय करते समय भी मैं यह न भूलूँ कि इस रूपमें आप ही मेरे सामने हैं और आपके प्रीत्यर्थ ही मैं आपकी सेवाके लिये अपने स्वाँगके अनुसार कार्य कर रहा हूँ।' इसी प्रकार एक भंगिन-माता सामने आ जाय तो उसको भगवान् समझकर मन-ही-मन प्रणाम करे और स्वाँगके अनुसार बर्ताव करे। यों ही वकील मवक्किलको, दूकानदार ग्राहकको, डॉक्टर रोगीको, नौकर मालिकको, पत्नी पतिको, पुत्र पिताको और इसी प्रकार अपराधी न्यायाधीशको, भंगिन उच्चवर्णके लोगोंको, मवक्किल वकीलको, ग्राहक दूकानदारको, रोगी डॉक्टरको, मालिक नौकरको, पति पत्नीको, पिता पुत्रको भगवान् समझकर व्यवहार करे। बर्ताव करे स्वाँगके अनुसार, पर मनमें भगवद्भाव रखे तो बर्तावके सारे दोष अपने-आप नष्ट हो जायँगे। अपने-आप सच्ची सेवा बनेगी। भगवान्की नित्य स्मृति बनी रहेगी। यों मनुष्य दिनभर अपने प्रत्येक कार्यके द्वारा भगवान्की पूजा कर सकेगा। भगवान्ने कहा है—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥**' अपने कर्मके द्वारा भगवान्को पूजकर मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त करता है। अतएव मानव-जीवनका परम कर्तव्य समझकर सभीको भगवत्स्मरण तथा भगवत्सेवामें जीवन बिताना चाहिये।

जूनागढ़ पवित्र तीर्थभूमि है; क्योंकि यहाँ भगवान्के परमभक्त श्रीनृसिंह मेहता निवास करते थे। यहाँपर सिद्धोंका निवास-स्थान परम पवित्र गिरनार पर्वत है। ऐसी पवित्र तीर्थभूमिको शतशः प्रणाम और इस भूमिके समस्त निवासियोंको भी प्रणाम। अन्तमें मैं आप सबको प्रणाम करके करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि आप सब लोग मुझे ऐसा आशीर्वाद दें कि भगवान्के पवित्र तथा निष्काम मधुर स्मरणमें मेरा चित्त सदा लगा रहे।

साधकका स्वरूप

चार प्रकारके मनुष्य होते हैं—१. पामर, २. विषयी, ३. साधक या मुमुक्षु और ४. सिद्ध या मुक्त। इनमें पामर तो निरन्तर पाप-कर्ममें ही लगा रहता है, विषयोंमें अत्यन्त आसक्ति होनेके कारण उनकी प्राप्तिके लिये वह सदा-सर्वदा बुरी-बुरी बातोंको सोचता और बुरे-बुरे आचरण करता रहता है। उसकी बुद्धि सर्वथा मोहाच्छन्न रहती है तथा वह पुण्यमें पाप एवं पापमें पुण्य देखता हुआ निरन्तर पतनकी ओर अग्रसर होता रहता है। अतएव उसकी बात छोड़िये। इसी प्रकार सिद्ध या मुक्त पुरुष भी सर्वथा आलोचनाके परे हैं। उसकी अनुभूतिको वही जानता है। उसकी स्थितिका वाणीसे वर्णन नहीं किया जा सकता तथापि हमारे समझनेके लिये शास्त्रोंने उसका सांकेतिक लक्षण 'समता' बतलाया है। वह मान-अपमानमें, स्तुति-निन्दामें, सुख-दु:खमें, लाभ-हानिमें सम है। उसके लिये विषयोंका त्याग और ग्रहण समान है, शत्रु-मित्र उसके लिये एक-से हैं। वह द्वन्द्वरहित एकरस स्वसंवेद्य स्वरूप-स्थितिमें विराजित है। किसी भी प्रकारकी कोई भी परिस्थिति, कोई भी परिवर्तन उसकी स्वरूपावस्थामें विकार पैदा नहीं कर सकते।

अब रहे विषयी और साधक। सो इन दोनोंके कर्म दो प्रकारके होते हैं। दोनोंके दो पथ होते हैं। विषयी जिस मार्गसे चलता है, साधकका मार्ग ठीक उसके विपरीत होता है। विषयी पुरुषको कर्मकी प्रेरणा मिलती है— वासना, कामनासे और उसके कर्मका लक्ष्य होता है भोग। वह कामना-वासनाके वशवर्ती होकर, कामनाके द्वारा विवेकभ्रष्ट होकर कामनाके दुरन्त प्रवाहमें बहता हुआ विषयासक्त चित्तसे भोगोंकी प्राप्तिके लिये अनवरत कर्म करता है। साधकको कर्मकी प्रेरणा मिलती है—भगवान्‌की आज्ञासे और उसके कर्मका

लक्ष्य होता है भगवान्‌की प्रीति। वह भगवान्‌की आज्ञासे प्रेरणा प्राप्तकर, विवेककी पूर्ण जागृतिमें भगवान्‌की आज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे भगवान्‌में आसक्त होकर भगवान्‌की प्रीतिके लिये कर्म करता है। यही उनका मौलिक भेद है। विषयी मान चाहता है, साधक मानका त्याग चाहता है; विषयी निरन्तर बड़ाईका भूखा रहता है, उसे बड़ाई बड़ी प्रिय मालूम होती है, पर साधक बड़ाई-प्रशंसाको महान् हानिकर मानकर उससे दूर रहना चाहता है। वह प्रतिष्ठाको 'शूकरी-विष्ठा' के समान त्याज्य और घृणित मानता है। विषयीको विलास-वस्तुओंसे सजे-सजाये महलोंमें सुख मिलता है तो साधकको घास-फूसकी कुटियामें आरामका अनुभव होता है। विषयी बहुत बढ़िया फैशनके कपड़े पहनता है तो साधकको उन कपड़ोंसे शर्म आती है और वह सादे साधारण वस्त्रका व्यवहार करता है। विषयी इत्र-फुलेल लगाता है तो साधकको उनमें दुर्गन्ध आती है। इस प्रकार विषयी पुरुष संसारका प्रत्येक सुख चाहता है, साधक उस सुखको फँसानेवाली चीज मानकर—दुःख मानकर उससे बचना चाहता है।

साधकमें सिद्धपुरुषकी-सी समता नहीं होती और जबतक वह सिद्धावस्थामें नहीं पहुँच जाता, तबतक समता उसके लिये आवश्यक भी नहीं है। उसमें विषमता होनी चाहिये और वह होनी चाहिये विषयी पुरुषसे सर्वथा विपरीत। उसे सांसारिक भोग-वस्तुओंमें वितृष्णा होनी चाहिये। सांसारिक सुखोंमें दुःखकी भावना होनी चाहिये और दुःखोंमें सुखकी। सांसारिक लाभमें हानिकी भावना होनी चाहिये और हानिमें लाभकी। सांसारिक ममताके पदार्थोंकी वृद्धिमें अधिकाधिक बन्धनकी भावना होनी चाहिये और ममताके पदार्थोंकी कमीमें अधिकाधिक बन्धन-मुक्तिकी जगत्‌में उसका सम्मान करनेवाले, पूजा-प्रतिष्ठा करनेवाले, कीर्ति, प्रशंसा और स्तुति करनेवाले लोग बढ़ें तो उसे हार्दिक प्रतिकूलताका

मनके तामसी होनेसे हमारा स्वरूप तामसी होगा और तामसी व्यक्तिकी गति नीची होती है—

'अधो गच्छन्ति तामसाः॥'

जो लोग साधना करना चाहते हैं और अपना कल्याण चाहते हैं, उनके लिये समझदारीकी बात यही है कि वे भोग-जगत्से यथासाध्य बचें—जगत्की व्यर्थ चर्चासे बचें। साधकोंके लिये तो परदोष-दर्शन और परदोष-चिन्तन बहुत बड़ा विघ्न है। साधकको अपने दोष-दर्शनसे ही अवकाश नहीं मिलना चाहिये—

बुरा जो देखन मैं गया बुरा न पाया कोय।
जो तन देखा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

श्रीनारायणस्वामीने ठीक कहा है—

तेरे भावें जो करै भलौ बुरो संसार।
नारायण तू बैठ कर अपनो भवन बुहार॥

अपने घरमें झाड़ू लगाओ। गंदी झाड़ू लेकर दूसरेका मकान साफ करने जाओगे तो वहाँ भी गंदगी ही फैलाओगे; सफाई तो कहाँसे करोगे? अपना हृदय पहले साफ होना चाहिये।

हृदयकी स्वच्छताकी कसौटी क्या है—मनमें शान्ति, प्रसन्नता, त्याग, वैराग्य, सौम्यता, अहिंसा, सत्य, प्रेम, इन्द्रिय-निग्रह, सरलता, समता, निरभिमानिता, नम्रता, भगवान्‌के प्रति चित्तकी वृत्तिका प्रवाह, संसारमें उपरति तथा दैवी सम्पत्तिके अन्यान्य सद्‌गुणोंका होना। वह व्यक्ति भाग्यवान् है, जिसके जीवनमें संसार भगवान्‌के रूपके अतिरिक्त आता नहीं और जरूरत पड़नेपर कठिनतासे लाना पड़ता है। वह देखता है कि जगत् तो है नहीं। गीताका असली मर्म भगवान्‌ने बताया कि जगत् वास्तवमें केवल भगवान्‌से पूर्ण है—**'वासुदेवः सर्वमिति'** यह जगत् जो दीख रहा है, ऐसा यह प्राप्त नहीं होता; क्योंकि ऐसा है नहीं।

बोध होना चाहिये और इनके एकदम न रहनेपर तथा निन्दनीय कर्म सर्वथा न करनेपर भी अपमान, अप्रतिष्ठा और निन्दाके प्राप्त होनेपर अनुकूलताका अनुभव होना चाहिये। जो लोग साधक तो बनना चाहते हैं पर चलते हैं विषयी पुरुषोंके मार्गपर तथा अपनेको सिद्ध मानकर अथवा बतलाकर समताकी बातें करते हैं, वे तो अपनेको और संसारको धोखा ही देते हैं। निष्काम कर्मयोगकी, तत्त्वज्ञानकी या दिव्य भगवत्प्रेमकी ऊँची-ऊँची बातें भले ही कोई कर ले। जबतक मनमें विषयासक्ति और भोग-कामना है, जबतक विषयी पुरुषोंकी भाँति भोग-पदार्थोंमें अनुकूलता-प्रतिकूलता है तथा राग-द्वेष है, तबतक वह साधककी श्रेणीमें ही नहीं पहुँच पाया है, सिद्ध या मुक्तकी बात तो बहुत दूर है। मनमें कामना रहते केवल बातोंसे कोई निष्काम कैसे होगा? और मनमें भोगसुखमें विश्वास रहते कोई उनकी कामना कैसे नहीं करेगा? मनमें मोह रहते कोई तत्त्वज्ञानी कैसे होगा और मनमें विषयानुराग रहते कोई भगवत्प्रेमी कैसे बन सकेगा? अतएव साधकको विषयीसे विपरीत मार्गमें अनुकूलता दिखायी देनेवाली मनोवृत्तिका निर्माण करना होगा। इसीलिये भगवान्ने 'बार-बार विषयोंमें दु:ख-दोष देखने' की आज्ञा दी है— **'दु:खदोषानुदर्शनम्।'** संसारकी प्रत्येक अनुकूल कहानेवाली वस्तुमें, भोगमें और परिस्थितिमें साधकको सदा-सर्वदा दु:ख-बोध होना चाहिये। दु:खका बोध न होगा तो सुखका बोध होगा। सुखका बोध होगा तो उनकी स्पृहा बनी रहेगी। मन उनमें लगा ही रहेगा। इस प्रकार संसारके भोगादिमें सुखका बोध भी हो, उनमें मन भी रमण करता रहे तथा उनको प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा भी बनी रहे और वह भगवान्‌को भी प्राप्त करना चाहे—यह बात बनती नहीं—

जहाँ काम तहाँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँक रहि सकैं, रबि रजनी इक ठाम॥

जैसे सूर्य और रात्रि—दोनों एक साथ एक स्थानमें नहीं रह सकते, इसी प्रकार 'राम' और 'काम'—'भगवान्' और 'भोग' एक साथ एक हृदयदेशमें नहीं रह सकते। इसलिये साधकको चाहिये कि भोगोंको दु:ख-दोषपूर्ण देखकर उनसे मनको हटावे। उसे यदि भोगोंके त्यागका या भोगोंके अभावका अवसर मिले तो उसमें वह अपना सौभाग्य समझे। वस्तुत: भोगोंमें सुख है ही नहीं, सुख तो एकमात्र परमानन्दस्वरूप श्रीभगवान्में है। विषय-सुख तो मीठा विष है जो एक बार सेवन करते समय मधुर प्रतीत होता है पर जिसका परिणाम विषके समान होता है, भगवान्ने कहा है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(गीता १८। ३८)

इसीलिये बुद्धिमान् साधक इन दु:खयोनि संस्पर्शज भोगोंसे कभी प्रीति नहीं करते, वे अपना सारा जीवन बड़ी सावधानीसे भगवान्के भजनमें बिताते हैं। देवर्षि नारदजी कहते हैं—

विहाय कृष्णसेवां च पीयूषादधिकां प्रियाम्।
को मूढो विषमश्नाति विषमं विषयाभिधम्॥
स्वप्नवन्नश्वरं तुच्छमसत्यं मृत्युकारणम्।
यथा दीपशिखाग्रं च कीटानां सुमनोहरम्॥
यथा बडिशमांसं च मत्स्यापातसुखप्रदम्।
तथा विषयिणां तात विषयं मृत्युकारणम्॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्म० ८। ३६—३८)

ऐसा कौन मूढ़ होगा जो अमृतसे भी अधिक प्रिय—सुखमय श्रीकृष्ण-सेवा (भजन) को छोड़कर विषम विषयरूप विषका पान करना चाहेगा? जैसे कीट-पतंगोंकी दृष्टिमें दीपककी ज्योति बड़ी

मनोहर मालूम होती है और वंशीमें पिरोया हुआ मांसका टुकड़ा मछलीको सुखप्रद जान पड़ता है, वैसे ही विषयासक्त लोगोंको स्वप्नके सदृश असार, विनाशी, तुच्छ, असत् और मृत्युका कारण होनेपर भी 'विषयोंमें सुख है'—ऐसी भ्रान्ति हो रही है।

साधक इस भ्रान्तिके जालको काटकर इससे बाहर निकल जाता है, अतएव जब उसके विषय-सुखका हरण या अभाव होता है, तब वह भगवान्‌की महती कृपाका अनुभव करता है। वास्तवमें है भी यही बात। मान लीजिये एक दीपक जल रहा है; दीपककी लौ बड़ी सुन्दर और मनोहर प्रतीत होती है, उस लौकी ओर आकर्षित होकर हजारों पतंगें उड़-उड़कर जा रहे हैं और उसमें पड़कर अपनेको भस्म कर रहे हैं। इस स्थितिमें यदि कोई सज्जन उस दीपकको बुझा दे या दीपक और पतंगोंके बीचमें लम्बा पर्दा लगा दे, पतंगोंको उधर जानेसे रोक दे तो बताइये, इसमें उन पतंगोंका उपकार हुआ या अपकार? और इस प्रकार पतंगोंको जल-मरनेसे बचानेवाला वह मनुष्य उनका उपकारी हुआ या अपकारी? बुद्धिमान् मनुष्य यही कहेगा कि उसने बड़ा उपकार किया जो पतंगोंको जलनेसे बचा लिया।

इसी प्रकार यदि सहज सुहृद् भगवान् दया करके हमें भोगके भीषण दावानलसे बचानेके लिये भोगवस्तुओंका अभाव कर देते हैं, उनसे हमारा बिछोह करा देते हैं तो वे हमपर बड़ा उपकार करते हैं। कीचड़में आकण्ठ धँसे हुए किसी प्राणीको यदि कोई उससे खींचकर निकाल लेता है तो वह बहुत ही अनुग्रह करता है। भगवान्‌ने बलिके साम्राज्य-वैभवका हरण कर लेनेके बाद ब्रह्माजीसे स्वयं कहा है—

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते॥

(श्रीमद्भा० ८। २२। २४)

'ब्रह्माजी! धनके मदसे मतवाला होकर मनुष्य मेरा (भगवान्‌का) और लोगोंका तिरस्कार करने लगता है (इससे वह परमार्थके मार्गसे वंचित हो जाता है, अतः उसका कल्याण करनेके लिये) उसपर अनुग्रह करके मैं उसका धन (विषय-वैभव) हर लिया करता हूँ।'

उसपर तो मेरी बड़ी ही कृपा समझनी चाहिये कि जो मनुष्ययोनिमें जन्म लेकर कुलीनता, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धनादि विषयोंको पाकर उनका घमंड नहीं करता—

जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः ।
यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥

(श्रीमद्भा० ८। २२। २६)

आगे चलकर भगवान्‌ने इसी सिद्धान्तका स्पष्टीकरण करते हुए यहाँतक कह दिया कि—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥
तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम्।

(श्रीमद्भा० १०। ८८। ८—१०)

'जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसका सारा धन धीरे-धीरे हर लेता हूँ। जब वह धनहीन हो जाता है, तब उसके घरके लोग उसके दुःखाकुल चित्तकी परवा न करके उसे त्याग देते हैं। वह (यदि) फिर धनके लिये उद्योग करता है तो (उसके परम कल्याणके लिये मैं कृपा करके) उसके प्रत्येक प्रयत्नको असफल करता रहता हूँ। इस प्रकार बार-बार असफल होनेके कारण जब उसका मन धनसे विरक्त हो जाता है, उसे दुःख समझकर वह उधरसे अपना मन हटा लेता है, तब

वह मेरे प्रेमी भक्तोंका आश्रय लेकर उनसे मैत्री करता है और तब मैं उसपर अहैतुक अनुग्रह करता हूँ। मेरी उस कृपासे उसे उस परम सूक्ष्म अनन्त सच्चिदानन्दघन परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।'

साधकके तो जीवनका लक्ष्य ही परमात्माकी प्राप्ति है, अतः वह इस अवस्थामें भगवान्‌के अनुग्रहका प्रत्यक्ष अनुभव करके सहज ही प्रसन्न होता है। वह समझता है भगवान्‌ने बड़ी कृपा करके मुझको कीचड़से—दलदलसे, नरककुण्डसे निकाल लिया। भयानक विषपानसे बचा लिया। वह विषयोंके अभावमें सचमुच एक विलक्षण आश्वस्तिका, शान्तिका, भारमुक्तिका अनुभव करता है। यह सत्य है कि जिसको संसारमें जितनी सुख-सुविधा अधिक मिलती है, वह उतना ही अधिक रागसम्पन्न होकर संसारपाशमें बँधता है। इस दृष्टिसे जिसके पास ममत्वकी वस्तुएँ—मकान, जमीन, धन आदि अधिक हैं, जिसके आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बान्धव, इष्ट-मित्र, अनुयायी-अनुगामी, शिष्य-प्रशिष्य जितने अधिक हैं, उतनी ही उसकी विषयोंमें आसक्ति अधिक है और वह उतना ही दुःखका, नरकयन्त्रणाके भोगका अधिक अधिकारी होगा। उसका नरकोंमें जाना और वहाँके भीषण कष्टोंको भोगना उतना ही सहज होगा; क्योंकि जहाँ विषयासक्ति बढ़ी होती है, वहाँ विवेक नहीं रहता। विवेकका नाश होते ही पापबुद्धि हो जाती है और पापका फल नरकभोग या संताप अनिवार्य है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि जो लोग कामोपभोगको ही जीवनका एकमात्र ध्येय मानते हैं, आशाओंकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए काम-क्रोधपरायण होकर कामोपभोगकी पूर्तिके लिये अन्यायपूर्वक अर्थसंग्रहका प्रयत्न करते रहते हैं। जो कहते हैं कि आज हमने यह कमाया, हमारे और सब मनोरथ पूरे होंगे। हमारे पास इतना धन हो गया और भी होगा। हमने उस शत्रुको मार दिया, दूसरोंका भी काम तमाम कर देंगे। हम ही ईश्वर हैं, हम भोगी हैं, हम

सफल-जीवन हैं, हम बलवान् और सुखी हैं, हम बड़े धनी और जनताके नेता हैं। हमारे समान दूसरा है ही कौन? हम यज्ञ करेंगे, हम दान देंगे, हम आनन्दसागरमें हिलोरें लेंगे। इस प्रकार अज्ञानविमोहित, अनेक-चित्तविभ्रान्त और मोह-जालसमावृत, कामोपभोगमें अत्यन्त आसक्त मनुष्य महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं—

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

(गीता १६। १६)

ऐसे लोग चाहे अपनेको कितना ही सुखी और समृद्ध मानें, चाहे इनको कितनी ही सुख-सुविधा और मान-सम्मान प्राप्त हो, चाहे इनके कितने ही अनुयायी, शिष्य, अनुगामी, सहयोगी, सखा, मित्र, बान्धव हों, कितना ही ऊँचा इनको अधिकार या पद प्राप्त हो, कितने ही अधिक आरामसे विशाल सुसज्जित भवनोंमें इनका निवास हो, चाहे इनके सुख-ऐश्वर्यको देख-देखकर लाखों-करोड़ों लोग ललचाते हों, परंतु जिनकी मनोवृत्ति उपर्युक्त प्रकारकी है—उनका यह सारा सुख-वैभव उस दुःखपूर्ण विशद ग्रन्थकी भूमिका है, जो उनके लिये निर्माण हो रहा है या वह उस दुःख-यातनापूर्ण विशाल भवन—नरकालयकी नींव है जो उनके लिये बन रहा है। इसलिये साधकको बड़ी सावधानीके साथ इस भोगसुखाश्रयी आसुरी मनोवृत्तिसे बचना चाहिये और संसारके इस भोग-सुख वैभवके अभावमें सौभाग्यका अनुभव करना चाहिये। परमबुद्धिमती कुन्तीदेवीने भगवान्से वरदान माँगा था—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० १। ८। २५)

'जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सदा पद-पदपर विपत्तियाँ ही आती रहें, क्योंकि विपत्तियोंमें निश्चितरूपसे आपके दर्शन हुआ करते हैं और

आपके दर्शन हो जानेपर फिर अपुनर्भव (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है। फिर जन्म-मृत्युके चक्रमें नहीं आना पड़ता।'

कुन्ती इस बातको जानती थी कि भगवान् 'अकिंचन' (निर्धन) प्रिय हैं, 'अकिंचन' (निर्धन) के धन हैं और 'अकिंचन' को ही प्राप्त होते हैं। इसीलिये उन्होंने अपनी स्तुतिमें '**अकिञ्चनवित्ताय**', '**अकिञ्चनगोचरम्**' कहकर उनका गुणगान किया है।

सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल राम रटाय॥

इसीलिये साधक भोगसुखमें परम हानिका प्रत्यक्ष करके भोगोंके अभावरूप दुःखका इच्छापूर्वक वरण करता है। पर याद रखना चाहिये कि भोगोंके स्वरूपतः त्यागसे ही इस भावकी पूर्णता नहीं होती। असलमें तो मनसे भोगोंका त्याग होना चाहिये। भोगोंमें मलिन-बुद्धि, दुःख-बुद्धि, दोष-बुद्धि, वमन-बुद्धि, मल-बुद्धि या विष-बुद्धि होनी चाहिये। अपने टाट पहन ली, पर यदि रेशमी वस्त्र पहननेवालोंके प्रति आकर्षण रहा, अपने झोपड़ीमें रहते हैं पर यदि महलोंमें रहनेवालोंका सौभाग्य मनपर प्रभाव डालता है, अपने रूखा-सूखा खाते हैं पर यदि मेवा-मिष्ठान्नोंपर मन चलता है, अपने सादगीसे रहते हैं पर यदि विलासी जीवनको देखकर उसके सुखी और सौभाग्यवान् होनेकी कल्पना होती है; चाहे कोई दुःख प्रकट न करे, पर जबतक मनकी यह स्थिति है, तबतक भोगोंके अभावमें प्रतिकूलता बनी ही है। भोगोंका गौरव तथा महत्त्व मनमें वर्तमान है ही। साधकके लिये मनकी यह स्थिति बड़ी विघ्नकारक है। उसकी साधनामें यह एक महान् प्रतिबन्धक या अन्तराय है। अतएव साधकको अपने मनसे भोगोंका गुरुत्व, महत्त्व बिलकुल निकाल देनेका प्रयत्न करना चाहिये।

एक बार काशीमें एक विधवा बहिन मिली थी। वह अपनी

स्थितिमें बहुत ही संतुष्ट थी। उसने मुझे बताया कि 'विधवा होनेके बाद ही भगवत्कृपासे मेरी मनोवृत्ति बदल गयी। मैंने भोगोंके अभावमें सुखका अनुभव किया।' उसने कहा—'मैं यदि संसारमें भोग-जीवन बिताती, मेरे बाल-बच्चे होते, कोई बीमार होता, कोई मरता, किसीके विवाहकी चिन्ता होती। हजारों तरहके नये-नये अभावोंकी आगमें मुझे झुलसते रहना—जलते रहना पड़ता। अब मैं बड़ी सुखी हूँ, बिना किसी भय-आशंकाके भगवान्‌का भजन करती हूँ। रूखा-सूखा जो मिल जाता है, खा लेती हूँ, जो मोटा-झोटा मिल जाता है, पहन लेती हूँ। मुझे कोई आवश्यकता ही नहीं है। न मुझे शृंगारकी चिन्ता है, न आवश्यकता है, न मुझे जीभके स्वादकी चिन्ता है, न आवश्यकता है। यदि इसी प्रकार विधवा बहिनोंके, अभावग्रस्त भाई-बहिनोंके भाव बदल जायँ और वे अभावकी स्थितिमें अनुकूलताका अनुभव करने लगें तो सभी तुरंत सुखी हो सकते हैं। वस्तुतः संसारमें सुख-दुःख किसी वस्तुमें, अवस्थामें, स्थितिमें या प्राणी-पदार्थमें नहीं है। वह तो केवल मनकी भावनामें है। भावना बदल जाय, दुःखमें भगवत्कृपाके दर्शन हों तो दुःख नामक कोई वस्तु रह ही नहीं जायगी। भावनामें ही दुःख-सुख रहते हैं। एक आदमी ध्यानका अभ्यास करनेके लिये कोठरीमें जाकर बाहरसे बंद कर लेनेको कहता है और दूसरे आदमीको कोई वैसी ही कोठरीमें बलपूर्वक बंद कर देता है। दोनों एक-सी कोठरीमें, एक-सी स्थितिमें हैं। दोनोंके ही चित्त चंचल हैं, ध्यानका अभ्यास करनेवालेका भी मन नहीं लग रहा है और दूसरेका मन तो चंचल है ही। पर उनमें जो स्वेच्छासे ध्यानके अभ्यासके लिये बंद हुआ है, वह सुखका अनुभव करता है और जिसको अनिच्छासे बंद किया गया है वह दुःखका। इसका कारण यही है कि पहलेकी उसमें अनुकूल भावना है और दूसरेकी प्रतिकूल। इसी प्रकार एक मनुष्य अपना सर्वस्व

निकलकर सुखमय प्रकाशमय पथपर पैर रखनेका सुअवसर प्राप्त हुआ है। यही सच्चे सौभाग्यका महिमामय मार्ग है। यही यथार्थ त्याग है। घर छोड़ना त्याग नहीं है, कपड़े या नाम बदलना त्याग नहीं है। यदि मनमें विषयानुराग है तो वहाँ घरका नाम भवन या महल न होकर आश्रम या मठ होगा; नाममें भी संन्यासका संकेत होगा। पर सच्चा संन्यास, सम्यक् त्याग तो तभी होगा, जब विषयानुरागका त्याग होगा। विषयीके सारे कार्य विषयानुरागसे ओत-प्रोत होते हैं और साधकके भगवदनुरागसे। यही उनका महान् अन्तर है। विषयीका मन सदा-सर्वदा विषयोंमें अटका रहता है, वह मृत्युके समयमें भी विषय-चिन्तनमें लगा रहता है और साधकका मन सदा विषयोंसे विरक्त रहता है, उनके त्यागमें उसे जरा-सी कठिनता नहीं प्रतीत होती। उसका चित्त निरन्तर भगवान्‌के चिन्तनमें संलग्न रहता है। मौत चाहे जब आवे, वह तो उसे मिलेगा भगवान्‌का चिन्तन करता हुआ ही। इसीसे उसको भगवान्‌की प्राप्ति सुनिश्चित मानी जाती है।

पर यदि कोई ऐसा अधिकारी हो कि भगवान् उसके पास प्रचुर मात्रामें भोग-पदार्थ रखकर ही उसे अपनी ओर लगाना चाहते हों, उसके द्वारा आदर्शरूपसे भोग-पदार्थोंका सेवन कराना चाहते हों तो इसमें भी कोई आपत्तिकी बात नहीं है। यदि कोई राग-द्वेषसे रहित होकर अपने वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन करता है तो उसे भगवान् प्रसाद देते हैं अर्थात् वह अन्तःकरणकी प्रसन्नता या निर्मलताको प्राप्त होता है और उस प्रसादसे—निर्मलतासे उसके सारे दुःखोंका अभाव हो जाता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(गीता २। ६४-६५)

बन्धनका प्रधान कारण है अनुकूल विषयोंमें आसक्ति या राग। जहाँ अनुकूलमें राग होता है वहाँ प्रतिकूलमें द्वेष होता ही है। अनुकूल वस्तुओंपर मनुष्य अपनी ममताकी मुहर लगाकर उनका स्वामी, भोक्ता बनना चाहता है, तब बन्धन और भी गाढ़ा हो जाता है। यदि वह अपनेको तथा भगवान्‌के द्वारा दिये हुए समस्त प्राणी-पदार्थोंको भगवान्‌का बना दे, भगवान्‌का मान ले, जो यथार्थमें हैं, अपने सहित अपना सर्वस्व भगवान्‌का बनाकर केवल भगवान्‌के चरणोंमें ही सारी ममताको लगा दे—

सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

—तो फिर भगवान्‌की प्राप्तिमें विलम्ब न हो। ऐसी अवस्थामें धन-वैभव, मकान-जमीन सभी कुछ रहें तो कोई आपत्ति नहीं; वे रहेंगे भगवान्‌के और उनके द्वारा होगी केवल भगवान्‌की सेवा। भोगोंमें ममत्व जल जायगा। विषयोंकी आसक्ति नष्ट हो जायगी। सारी ममता और सारी आसक्ति अनन्य अनुरागके रूपमें भगवान्‌के चरणोंमें आकर केन्द्रित हो जायगी। फिर वह साधक स्वयं कुछ नहीं करेगा, भगवान् ही उसके हृदयदेशमें विराजित होकर अपनी मनमानी करेंगे; क्योंकि वही भगवान्‌का अपना घर है—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥
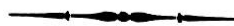
मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य—भगवत्प्राप्ति

(कर्मानुसार गतियोंके भेद)

मनुष्य-जीवनका एकमात्र पवित्र उद्देश्य या परम ध्येय है—जन्म-मृत्युके चक्रसे नित्यमुक्ति। इसीको मोक्ष, आत्मसाक्षात्कार, तत्त्वज्ञान, बोध, भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कहते हैं। अनन्य तीव्र इच्छाके साथ उपयुक्त साधन करनेपर इसी जन्ममें मानव-जन्म मिला है। पर वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। साधनानुकूल कर्म भी कर सकता है और उसके सर्वथा प्रतिकूल भी। कर्मानुसार ही फल प्राप्त होता है। मनुष्य साधना करके मुक्त भी हो सकता है, सत्कर्म करके विपुल भोगमय स्वर्गकी प्राप्ति भी कर सकता है, असत्-कर्म करके घोर यन्त्रणामय नरकोंमें भी जा सकता है और पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा जड-वृक्ष, लता-पाषाण भी बन सकता है। मानव-जीवनको व्यर्थ-अनर्थके कार्योंमें खोकर अनन्तकालीन दुःखका भविष्य निर्माण कर सकता है। इसीलिये कहा जाता है कि दुर्लभ मनुष्य-जन्मका एक क्षण भी व्यर्थ-अनर्थमें न खोकर केवल भगवत्प्राप्तिके साधनमें ही लगाना चाहिये। स्वर्गका भोग-सुख मिलेंगे, तो वे भी वस्तुतः विनाशी तथा दुःखप्रद ही होंगे। कहीं कर्मकी फलस्वरूप दुर्गति हो गयी, तब तो बहुत ही बुरी बात होगी। लेने-के-देने पड़ जायँगे। पर वर्तमानकालमें अधिकांशमें मनुष्य ऐसा भोगासक्त हो गया है कि वह जीवनके असली उद्देश्य भगवत्प्राप्तिको भूलकर अहंता-ममता, राग-द्वेष एवं कामके गंधलोभसे अभिभूत हो ऐसे ही कर्म करता है, जिनसे जीवनभर यहाँ भी अशान्ति, दुःख, भय, विषाद तथा चिन्ता आदिसे ग्रस्त-संत्रस्त

रहता है और भोगोंकी प्राप्तिके लिये पापकर्ममें लगा रहनेके कारण मृत्युके बाद आसुरी योनियोंको तथा नरकोंकी घोर यन्त्रणाओंको प्राप्त होता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(१६। २०)

(ऐसे लोगोंको) 'मेरी (भगवान्‌की) प्राप्ति तो होती ही नहीं, वे मूढ पुरुष जन्म-जन्ममें आसुरी योनि (राक्षस) पिशाच, भूत-प्रेत या कुत्ते, सूअर, गधे आदिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिमें अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं।' दुर्लभ मनुष्य-जीवनका यह कितना अवांछनीय दुष्परिणाम है।

कर्मानुसार मनुष्य निम्नलिखित गतियोंको प्राप्त होता है—

(१) अहंता-राग-द्वेषसे सर्वथा रहित जीवन्मुक्त पुरुष अथवा इस भावके साधनसे सम्पन्न पुरुष, मरनेपर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते। सूक्ष्म कारण-शरीर नष्ट हो जाते हैं। यह सद्योमुक्ति है।

(२) भगवान्‌की भक्तिमें ही जीवन समर्पण कर देनेवाले भक्तको भगवान्‌के दिव्य पार्षद स्वयं आकर ज्योतिर्मय स्वप्रकाश सच्चिदानन्दमय भगवत्स्वरूप नित्य परम धाम वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, कैलास आदिमें दिव्य विमानद्वारा ले जाते हैं। वह वहाँ उस दिव्य धाममें सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि आदि भगवत्स्वरूपताको प्राप्त करके अचिन्त्य अनिर्वचनीय भगवत्स्थितिमें रहता है। पर, प्रेमी साधक इस स्थितिको भी स्वीकार नहीं करते, वे साक्षात् सेवारूप बनकर नित्य भगवत्सेवापरायण ही रहते हैं। देनेपर भी उपर्युक्त

सालोक्यादिको ग्रहण नहीं करते। यही परभक्ति या प्रेमाभक्तिको प्राप्त पुरुषका भगवत्सेवामें नित्य प्रवेश है।

ये दोनों ही परम गति हैं। यही मानव-जीवनकी परम सफलता है। यह अनादिकालसे भटकते हुए जीवका उससे मुक्त होकर नित्य सत्य परमानन्दस्वरूपको प्राप्त होना है।

(३) निष्कामभावसे परमार्थ-साधन करनेवाले ब्रह्मवेत्ता पुरुष देवयान उत्तरायण या अर्चिमार्गसे दिव्य देवलोकोंमें देवताओंके द्वारा ले जाये जाकर वहाँ अभ्यर्थित होते हुए ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं। संसारमें उनका पुनरावर्तन नहीं होता। यह क्रममुक्ति है।

(४) सकामभावसे शास्त्रोक्त सत्कर्म करनेवाले पुरुष पितृयान दक्षिणायन या धूममार्गसे दिव्य चन्द्रलोकतक जाते हैं, यही भोगमय, प्रकाशमय स्वर्गधाम है। इसके सहस्रों रूप हैं, पुण्यात्मा पुरुष क्षीण होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें लौट आते हैं।

(५) ज्ञान-विज्ञानरहित मोहग्रस्त भोगासक्त पाप-परायण मनुष्य मरनेके बाद वायुके सहारे चलनेवाले (वायु-प्रधान) दूसरे शरीरको धारण कर लेते हैं, जो रूप, रंग और अवस्था आदिमें ठीक पहले मृत-शरीरके जैसा ही होता है। यह शरीर माता-पिताके द्वारा उत्पन्न नहीं होता। यह कर्मजनित होता है और यातना-भोगके लिये ही मिलता है। तदनन्तर शीघ्र ही उसे दारुण पाशसे बाँधकर घोर भयंकर आकृति क्रूरकर्मा यमदूत डंडोंसे पीटते तथा बड़ी बुरी तरह यातना देते हुए दक्षिण दिशामें यमलोककी ओर खींचकर ले जाते हैं। वहाँ कर्मानुसार उसे नरकादि यन्त्रणा-भोगकी व्यवस्था होती है।

(६) जो न तो मुक्त होते हैं, न देवयान-पितृयान मार्गसे जाते हैं और न नरकोंमें ही जाते हैं—ऐसे प्राणी कर्मानुसार यहीं मच्छर, मक्खी, जूँ, लिख, घुन आदिकी योनिको प्राप्त करते हैं।

कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि मनुष्य मरते ही तत्काल यहीं दूसरे मनुष्य-शरीरका अथवा पशु-पक्षी—तिर्यक् या वृक्ष-पाषाण आदिके शरीरको प्राप्त हो जाता है। अन्य लोकोंमें नहीं जाता। शाप-वरदानसे या प्रबल वासनायुक्त तत्काल पुनर्जन्मदायक कर्मोंके कारण ऐसा होता है। कई योगभ्रष्ट पुरुष भी मरनेपर तुरंत मनुष्य-शरीर प्राप्त करते हैं। इसके भी नियम हैं।

इन सब बातोंपर विचार करके मनुष्यको अपने जीवनके वास्तविक एकमात्र परम तथा चरम ध्येय भगवत्प्राप्तिके साधनमें ही प्रवृत्त रहना चाहिये और वास्तवमें अहंता, राग-द्वेष अभिनिवेशरूप अविद्यासे मुक्त होकर ब्रह्मस्वरूपता या भगवान्‌के दिव्य परमधामको प्राप्त कर लेना चाहिये। इसमें जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। भगवत्कृपासे प्राप्त मनुष्य-शरीररूप सुअवसर भविष्यमें भयानक दुःख देनेवाले व्यर्थ अनर्थके कार्योंमें चला न जाय। शरीर क्षणभंगुर है, अतः किसी स्थितिविशेषकी प्रतीक्षा न कर भजनपरायण हो ही जाना चाहिये। नामरूपके अभिमान तथा राग-द्वेषसे छूटनेपर ही मनुष्य परम पद या भगवान्‌को प्राप्त कर सफलजीवन हो सकता है, केवल संत-महात्मा, भक्त-प्रेमी या ज्ञानी कहलानेमात्रसे नहीं। कहलाये चाहे नहीं, पर बने अवश्य।

रस (प्रेम)-साधनकी विलक्षणता

स्वरूपतः तत्त्व एक होनेपर भी रसरूप भगवान् और रसकी साधना—प्रेम-साधना कुछ विलक्षण होती है। रस-साधनामें एक विलक्षणता यह है कि उसमें आदिसे ही केवल माधुर्य-ही-माधुर्य है। जगत्में दुःख-दोष देखकर जगत्का परित्याग करना, भोगोंमें विपत्ति जानकर भोगोंको छोड़ना, संसारको असार समझकर इससे मनको हटाना—ये सभी अच्छी बातें हैं, बड़े सुन्दर साधन हैं, होने भी चाहिये। पर रसकी साधनामें कहींपर भी खारापन नहीं रहता। इसलिये किसी वस्तुको वस्तुके नाते त्याग करनेकी इसमें आवश्यकता नहीं रहती। प्रेमकी—रसकी साधना स्वाभाविक चलती है रागको लेकर। रस ही राग है, राग ही रस है। अतः भगवान्में अनुरागको लेकर रसकी साधनाका प्रारम्भ होता है। एकमात्र भगवान्में अनन्य राग, तो अन्यान्य वस्तुओंमें रागका स्वाभाविक ही अभाव हो जाता है। इसलिये किसी वस्तुका न तो स्वरूपतः त्याग करनेकी आवश्यकता होती और न किसी वस्तुमें दोष-दुःख देखकर उसे त्याग करनेकी प्रवृत्ति होती है। उन वस्तुओंमेंसे राग निकल जानेके कारण कहीं द्वेष भी नहीं रहता। ये राग-द्वेष द्वन्द्व हैं। जहाँ राग है, वहाँ द्वेष है। जहाँ द्वेष है, वहाँ राग भी है। द्वन्द्वकी वस्तु अकेली नहीं होती। इसीलिये उसका नाम 'द्वन्द्व' है। सो या तो ज्ञानी विचारके द्वारा द्वन्द्वातीत होते हैं या ये रसिकलोग—प्रेमीजन द्वन्द्वोंसे अपने लिये अपना कोई सम्पर्क नहीं रखकर उन द्वन्द्वोंके द्वारा ये अपने प्रियतम भगवान्को सुख पहुँचाते हैं और प्रियतमको सुख पहुँचानेके जो भी साधन हैं, उनमेंसे कोई-सा साधन भी त्याज्य नहीं, कोई-सी वस्तु भी हेय नहीं। एवं उन वस्तुओंमें कहीं आसक्ति है नहीं कि जो मनको खींच सके। इसलिये रसकी साधनामें कहींपर कड़वापन

नहीं है। उसका आरम्भ ही होता है माधुर्यको लेकर, भगवान्‌में रागको लेकर राग बड़ा मीठा होता है। रागका स्वभाव ही है मधुरता। जिसमें हमारा राग हो जाय, जिसमें हमारा प्रेम हो जाय, उसका प्रत्येक पदार्थ, उससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु सुखप्रदायिनी हो जाती है, सुखमयी बन जाती है। यह रागका—प्रेमका स्वभाव है। वह राग जहाँपर भी है, जिस किसी वस्तुमें है, वही वस्तु सुखकर हो जाती है और यह रससाधना शुरू होती है रागसे ही। इस साधनाकी बड़ी सुन्दर ये सब चीजें हैं समझनेकी, सोचनेकी, पढ़नेकी और वास्तवमें साधना करनेकी।

इस रसकी साधनामें सबसे पहला साधन होता है पूर्वराग। यह प्रियतम भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके, भगवान् श्रीराघवेन्द्रके किसीके भी प्रेमास्पदके गुणको सुनकर, उनके नामको सुनकर, उनके सौन्दर्य-माधुर्यकी बात सुनकर, उन्हें स्वप्नमें देखकर, उनकी मुरलीध्वनि या नूपुरध्वनि सुनकर, उनकी चर्चा सुनकर, कहीं दूरसे उन्हें देखकर, उनकी लीलास्थलीको देखकर मनमें जो एक आकर्षण पैदा होता है, मिलनेच्छाका उदय होता है, उसे पूर्वराग कहते हैं। पूर्वरागका जहाँ उदय हुआ, वहीं जिसके प्रति रागका उदय हुआ, उसको प्राप्त करनेके लिये, उसको पुनः-पुनः देखनेके लिये, उसके बार-बार गुण सुननेके लिये, उसकी चर्चा करनेके लिये, उसकी निवासस्थली देखनेके लिये सारी इन्द्रियाँ, सारा मन व्याकुल हो उठता है। जहाँ भोगोंके लिये होनेवाली व्याकुलता निरन्तर दुःखदायिनी होती है; वहाँ यह भगवान्‌के लिये होनेवाली व्याकुलता अत्यन्त दुःखदायिनी होनेपर भी परम सुख-स्वरूपा होती है। भगवान्‌के अतिरिक्त जितने भी विषय हैं, जितने भी भोग हैं, सभी दुःखयोनि हैं, दुःखप्रद हैं, कोई भी वस्तुतः सुखस्वरूप नहीं है, इनमें तो सुखकी मिथ्या कल्पना की जाती है। ये भगवान् सर्वथा-सर्वदा अपरिमित अनन्त सुखस्वरूप हैं। यही बड़ा भेद है। जितने भी इस लोकके, परलोकके, जगत्‌के भोग हैं, कोई

भी सुखस्वरूप नहीं है, आनन्दस्वरूप नहीं है। उनमें अनुकूलता होनेपर सुखकी कल्पना होती है, सुखका मिथ्या आभास होता है। उनमें सुखकी सत्ता नहीं है। भगवान् हैं अनन्त सुख-सागर। आनन्द भगवान्‌का स्वरूप है। आनन्द भगवान्‌में है, सो नहीं। आनन्द भगवान्‌का स्वरूप ही है। वह आनन्द नित्य है, अखण्ड है, अतुलनीय है और अनन्त है। वह आनन्द साक्षात् सच्चिन्मय भगवद्‌रूप है। इसलिये उन आनन्दस्वरूप भगवान्‌में जिसका राग होता है, उसको आरम्भसे ही आनन्दकी ही स्फूर्ति होती है, अतः प्रारम्भसे ही उसे सच्चित्-आनन्दके दर्शन होते हैं, आनन्दका ही सतत संग, निरन्तर आस्वाद मिलता है। इस रसकी साधनामें आरम्भसे ही सुखस्वरूप भगवान्‌में पूर्वराग होता है। सुखस्वरूप भगवान्‌में जो राग होता है, वह भगवान्‌की मिलनेच्छा उत्पन्न करता है और वह वियोग अत्यन्त दुःखदायी होता है। भगवान्‌के विरहमें जो अपरिसीम पीड़ा होती है, उसके सम्बन्धमें कहते हैं कि वह कालकूट विषसे भी अधिक ज्वालामयी होती है। वह महान् पीड़ा नवीन कालकूट विषकी कटुताके गर्वको दूर कर देती है—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनः।

पर उस विषम वियोग-विषमें उस विषके साथ एक बड़ी विलक्षण अनुपम वस्तु लगी रहती है—भगवान्‌की मधुरातिमधुर अमृतस्वरूप चिन्मयी स्मृति। भगवान्‌की यह स्मृति नित्यानन्तसुखस्वरूप भगवान्‌को अंदरमें ला देती है। फिर वह विष विष नहीं रह जाता। भयानक विष होते हुए भी वह देवलोकातीत भागवत-मधुर विलक्षण अमृतका आस्वादन कराता है। इसलिये भगवान्‌के मिलनकी आकांक्षाके समय भगवान्‌के जिस अमिलन-जनित तापमें जो परमानन्द है, वह परमानन्द किसी दूसरे विषयके अमिलनपर उसके मिलनेकी आकांक्षामें नहीं। इस तापमें परमानन्द हुए बिना रह नहीं सकता; क्योंकि भगवान् परमानन्दस्वरूप हैं। भोग-

वस्तुएँ सुखस्वरूप नहीं हैं। इसलिये उनका अमिलन कभी सुखदायी नहीं हो सकता, वह दुःखप्रद ही रहेगा। अतएव इस रसकी साधनामें, प्रेमकी साधनामें प्रारम्भसे ही भगवान्‌का सुखस्वरूप साधकके रागका विषय होता है। भगवान्‌का कण-कण आनन्दमय है, रसमय है। वहाँ उस रसमयताके अतिरिक्त, उस रसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी कोई भी सत्ता नहीं है, भाव नहीं है, अस्तित्व नहीं है, होनापन नहीं है। वहाँ प्रत्येक रोम-रोममें केवल भगवत्स्वरूपता भरी है और भगवत्स्वरूपताका परमानन्द उसका स्वाभाविक सहज रूप है। वस्तुतः जहाँ-जहाँ भगवान्‌की स्मृति है, वहाँ-वहाँ भगवद्रसका समुद्र लहरा रहा है। अतएव आनन्दमय भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, रसरूप भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, प्रेमके द्वारा प्रेमास्पद भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये जिस प्रेम-साधनकी—रससाधनकी निष्ठा होती है, आरम्भसे ही उसमें वह परम सुखका—परम माधुर्यका आस्वादन मिलता है। तो फिर भगवान्‌के विरहमें दुःखका होना क्यों माना गया है? विष क्यों बताया गया है? उसमें कालकूटसे भी अधिक विषकी कटुता क्यों कही गयी है? इसका उत्तर यह है कि वह भगवान्‌के मिलनकी आकांक्षा, संसारके भोगोंको प्राप्त करनेकी आकांक्षासे अत्यन्त विलक्षण होती है। यहाँ जो संसारका, संसारकी वस्तुओंका, प्राकृत पदार्थोंका प्राप्त होना है, वह यह अर्थ नहीं रखता कि वही वस्तु प्राप्त होनी चाहिये। एक वस्तुकी प्राप्ति न हो तो, दूसरी वस्तुसे संतोष हो सकता है। यहाँ तो विनिमय चलता है। एक वस्तु न मिली तो वैसी ही दूसरी वस्तुसे काम चल गया। एक खिलौना न मिला तो बच्चेको दूसरा देखनेको मिल गया। पर वहाँ भगवान्‌के प्रेममें उस प्रेमके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुके मिलनेकी आकांक्षा कदापि नहीं होती; क्योंकि अन्य कोई भी वस्तु उसकी पूर्ति कर ही नहीं सकती। किसी दूसरी वस्तुसे उस कामनाकी तृप्ति नहीं हो

सकती। इसलिये भगवान्‌के मिलनके मनोरथमें जो संताप होता है, वह संताप इतना तीव्र होता है कि दूसरी किसी वस्तुसे किसी भी परिस्थितिसे वह मिट ही नहीं सकता। इसीलिये वह अत्यन्त तीव्र होता है। उसकी तीव्रता जबतक भगवान् नहीं मिलते, उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

यह अवश्य ही बड़ी मनोहर बात है कि भगवान्‌में परस्पर-विरोधी गुण—धर्म युगपत् रहते हैं, जो भगवान्‌की भगवत्ताका एक लक्षण माना जाता है और यह कहा जाता है कि जिसमें परस्पर-विरोधी गुण-धर्म एक साथ, एक समयमें रहें, वह भगवान् है। जहाँ गरमी है, वहाँ सर्दी नहीं है; जहाँ दुःख है, वहाँ सुख नहीं है; जहाँ मिलन है, वहाँ अमिलन नहीं है और जहाँ भाव है, वहाँ अभाव नहीं है। इस प्रकार दो विरोधी वस्तु जगत्‌में एक साथ एक समय नहीं रहतीं। यह नियम है। परंतु भगवान् ऐसे विलक्षण हैं—

अणोरणीयान् महतो महीयान्।

(कठ० १। २। २०)

वे अणु-से-अणु भी हैं और उसी समय वे महान्-से-महान् भी हैं।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।

(ईश० ५)

'वे चलते हैं और नहीं भी चलते, वे दूर हैं और पास भी हैं।' वे एक ही समय निर्गुण भी हैं, उसी समय वे सगुण भी हैं। वे निराकार हैं, उसी समय वे साकार भी हैं। उनमें युगपत्-एक साथ परस्पर—विरोधी गुण-धर्म रहते हैं। और जिस प्रकार भगवान्‌में परस्पर-विरोधी गुण-धर्म एक साथ निवास करते हैं, उसी प्रकारसे वे परस्पर-विरोधी गुण-धर्म भगवत्प्रेममें, भगवत्प्रेमकी साधनामें भी एक साथ रहते हैं। वहाँ प्रेम-साधनामें और प्रेमोदयके पश्चात् भी हँसनेमें रोना और रोनेमें हँसना चलता है। रोना विरह-विकलताजनित पीड़ाका और हँसना मधुरस्मृतिजनित

अतः आँख खुली रहनेपर भी नहीं दिखायी पड़ता। इसी प्रकारसे वियोगमें नित्य संयोग रहता है, प्रियतम भगवान् सर्वथा मिले रहते हैं और वहाँ निर्बाध लीला चलती है। यों बाह्य वियोगमें आभ्यन्तरिक मिलन तो है ही, उसमें एक विलक्षणता भी है। वियोगके संयोगमें और संयोगके संयोगमें क्या विलक्षणता है? संयोगका मिलन बाहरका मिलन है। उसमें समय, स्थान, लोकमर्यादा आदिके बन्धन हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक बात है, सब समझ सकते हैं। बोले—भाई! आज आपसे मिलनेका समय हमने निश्चित किया है दिनमें तीन बजे। उसके बाद दूसरा काम करना है। फिर तीसरा काम करना है और अमुक स्थानपर मिलना है। इस प्रकार यह मिलन स्थान-सापेक्ष है, यह मिलन समय-सापेक्ष है। फिर वह बाहरका मिलन कैसा है? जैसे राजदरबारमें राजपुत्र भी जाकर दरबारके नियमानुसार राजासे मिलता है, वह सीधा जाकर गोदमें नहीं बैठता। सबके अलग-अलग स्थान निश्चित रहते और तदनुसार ही आसन लगे होते हैं। राजदरबारमें एक मर्यादा है, तदनुसार ही अलग-अलग आसन है। यह नहीं कि महलमें जैसे राजकुमार पिताकी छातीपर बैठकर उनकी दाढ़ी नोचने लगे, वैसे ही दरबारमें भी करे। अलग-अलग मर्यादा होती है मिलनकी स्थानके अनुसार। अतः संयोगके मिलनमें स्थान निर्बाध नहीं, मिलनमें समय निर्बाध नहीं, मिलनमें व्यवहार निर्बाध नहीं और वियोगके मिलनमें जो अंदर मिलन होता है, वह कितनी देर होता है? कोई देर-सबेरकी अपेक्षा नहीं। लगातार दिनभर होता रहे, कौन रोकता है? और कहाँ होता है! जहाँ भी वह अंदर प्रकट हो जाय, वहीं होता है—जंगलमें, वनमें, घरमें, बाहर, बाजारमें—कहींपर भी। वह स्थानकी अपेक्षा नहीं रखता कि अमुक स्थानमें मिलन होगा। फिर मिलनमें व्यवहार कैसा होगा? वहाँ न राजदरबार है, न महल है। जैसा मनमें आये, वैसा ही निर्बाध स्वच्छन्द व्यवहार। इस प्रकार व्यवहारका

स्वातन्त्र्य, समयका स्वातन्त्र्य और स्थानका स्वातन्त्र्य जैसा अन्तरात्मासे अभ्यन्तर मिलनमें है वैसा बाह्य मिलनमें नहीं है। अवश्य ही अन्तरात्माके मिलनमें, अभ्यन्तरके मिलनेमें यदि वास्तविक मिलन न होता, तब तो यह वियोग बहुत बुरी चीज थी; क्योंकि भगवान्‌का, प्रियतमका वियोग तो सदा जलानेवाला ही है। पर यह प्रियतम श्रीभगवान्‌का वियोग है, संसारी वस्तुका नहीं है; इसलिये यह वियोग विलक्षण—परम सुखमय होता है। संसारकी किसी प्रिय वस्तुका वियोग हो जाता है, तब वह बार-बार याद आती है, पर मिलती नहीं। इससे वह उसकी स्मृति भी दुःखदायिनी होती है। हमारे एक मित्र हैं, बड़े अच्छे पुरुष हैं, बड़े विचारशील हैं, बड़े विद्वान् हैं, बड़े देशभक्त हैं, बड़े धार्मिक हैं—सब गुण हैं उनमें। उनके सुयोग्य पुत्रका कुछ वर्षों पूर्व देहावसान हो गया था। अतः वे जब-जब मिलते हैं, तब-तब कहते हैं, 'भाईजी! मैं उसको भुला नहीं सकता।' विचारशील हैं, वे समझते हैं कि जिस पुत्रका देहान्त हो गया, वह मिलेगा नहीं। वे दूसरोंको उपदेश कर सकते हैं, करते हैं; पर जब-जब एकान्तमें मिलते हैं, तब वही दशा देखी जाती है। वह वियोग क्यों दुःखदायी है? इसीलिये कि उसमें स्मृति तो है, पर स्मृतिमें मिलन नहीं है। मिलनकी सम्भावना ही नहीं है। भगवान् तो स्मृतिमें स्वयं प्रकट होकर सुखदान करने लगते हैं। पर जगत्‌की प्रत्येक वस्तुका वियोग केवल दुःखदायी ही होता है; क्योंकि उसमें मिलन है ही नहीं। प्रियतम भगवान्‌की बात इसीसे विलक्षण है। उसमें जहाँ बाहरका अमिलन हुआ, वहीं भीतरका मिलन प्रारम्भ हो गया। जरा-सी देरका भी वियोग प्रेमीको सहन होता नहीं—वियोग रहता भी नहीं। वियोगकी जो असहिष्णुता है, वियोगका जो महान् संताप है, वह तुरंत प्रियतमकी स्मृतिको मनमें उदित कर देता है बड़े विलक्षणरूपसे और वह स्मृति प्रियतमकी सुखस्वरूपा केवल स्मृति होकर नहीं रहती, वह प्रियतम

भगवान्‌के साक्षात् मिलनका अनुभव कराती है। अतः जिस वियोगमें ऐसे मिलनका अनुभव हो, जिसमें समयकी, स्थानकी और मिलनके व्यवहारकी सर्वथा स्वतन्त्रता हो, वह अच्छा या वह परतन्त्र स्थान, परतन्त्र समय और परतन्त्र व्यवहारवाला थोड़े कालका मिलन अच्छा? इन दोनोंको देखकर ही प्रेमी कहता है कि संयोग-वियोग दोनोंमेंसे किसी एककी बात आप पूछें तो हम कहेंगे कि 'हमें वियोग दीजिये, संयोग नहीं।' वियोगमें मिलनका अभाव नहीं है और संयोगमें वियोगकी सम्भावना है। इसलिये उसमें वियोगका दुःख भी रहता है—भावी वियोगका दुःख होता है कि कहीं मिली हुई चीज चली न जाय। अतः इस रसकी साधनामें प्रारम्भसे ही जहाँ वियोग है—जहाँ मिलन नहीं हुआ है। वहाँ पूर्वराग प्राप्त होता है और उस पूर्वरागके कारणसे प्रियतमकी अपने प्रेष्ठ भगवान्‌की जो नित्य मधुर स्मृति रहती है, वह स्मृति सुखस्वरूपा होनेके कारण मार्गका प्रारम्भ होते ही माधुर्यका आस्वादन आने लगता है। इसीलिये यह रसका मार्ग—सर्वथा मधुर मार्ग है, मधुर मार्ग।

दूसरी बात है—इस वियोगमें, इस मधुर मार्गपर चलनेमें जो आराध्य प्रियतम भगवान् हैं, एकमात्र उन्हीं प्रियतमकी अनन्य आकांक्षा रहती है, दूसरी आकांक्षा रहती ही नहीं। भगवान्‌को छोड़कर, जगत्‌का स्वरूप तमोमय है, अन्धकारमय है और भगवान् हैं प्रकाशमय। उनमें प्रकाश-ही-प्रकाश है। मनमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी जो वृत्ति उत्पन्न होती है, वह वृत्ति सात्त्विक होती है। सात्त्विक वृत्ति प्रकाशरूपा होती है। भगवान् तो परम प्रकाशरूप हैं ही, इसलिये इस रसकी साधनामें निरन्तर और निरन्तर एकमात्र परम प्रकाशरूप भगवान् सामने रहते हैं। इसीलिये इसका नाम है—'उज्ज्वल रस।' मधुर रस और उज्ज्वल रस एक ही चीज हैं। 'काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर'। इसमें कामनालेश न होनेके कारण कहींपर भी अन्धकारके लिये कोई कल्पना ही नहीं है,

दु:खके लिये कोई कल्पना ही नहीं है। इस रसकी साधनामें आरम्भसे ही भगवान्‌का स्वरूप, भगवान्‌का शब्द, भगवान्‌का स्पर्श, भगवान्‌का गन्ध और भगवान्‌का रस—ये सब साथ रहते हैं। जहाँ शुरूसे भगवद्रस साथ हो, वही रसकी साधना है। यह परम प्रियतम भगवान्‌की साधना है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँचों भोगरूप विषय जहाँ इन्द्रियचरितार्थताके लिये हैं, जहाँ ये प्राकृतिक विषय हैं, वहाँ ये बड़े गंदे, सर्वथा हेय और त्याज्य हैं तथा जहाँ इनको लेकर भगवान्‌के श्रीविग्रहका अप्रतिम सौन्दर्य नित्य नूतन रूपमें बढ़ता रहता है और जहाँ ये भगवान्‌की सुषमासामग्रीके रूपमें हैं, वहाँ ये रसस्वरूप हैं, वहाँ ये पवित्र हैं, परम पावन हैं। केवल पवित्र ही नहीं हैं, पवित्र करनेवाले हैं। इस साधनामें कहीं भगवान्‌की सुरीली मुरली-ध्वनि सुनायी पड़ती है, कहीं भगवान्‌के इस स्वरूपकी मनोहारिणी झाँकी होती है, कहीं भगवान्‌का मधुर प्रसाद प्राप्त होता है, कहीं भगवान्‌के चरणोंका कल्याण-सुखमय स्पर्श होता है और कहीं भगवान्‌का दिव्य अंग-सुगन्ध प्राप्त होता है। इसलिये ये जितने भी मधुरतम पदार्थ हैं, जितने भी भगवान्‌के रसस्वरूप पदार्थ हैं— ये आरम्भसे ही साधनाके अंगरूपमें साथ रहते हैं; क्योंकि इन्हींको साथ लेकर साधक रसमार्गपर अग्रसर होता है, इनका त्याग नहीं करता। जहाँ ज्ञानका साधक वैराग्यकी भावनासे विषयोंका त्याग करता हुआ, जगत्‌को देख-देखकर उससे घबराता हुआ, उसको छोड़ता हुआ, उसे बलात् हटाता हुआ आगे बढ़ता है (और वह सर्वथा उचित तथा युक्तियुक्त ही है), वहाँ इस रस—प्रेमका साधक इनको हटाता नहीं, दूर नहीं करता, मारता नहीं, वह तो बड़े चावसे इन सबको भगवान्‌की सुखसामग्री मानकर साथ लेता चलता है। वह भगवान्‌के शब्दको, भगवान्‌के रसको, भगवान्‌के रूपको, भगवान्‌की अंगसुगन्धको, भगवान्‌के संस्पर्शको सदा साथ रखता है; क्योंकि यही

स्मरण करता है न वह। यही उसकी साधना है और इस प्रकारसे वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन विषयोंको भगवान्‌के सौन्दर्यका पोषक देखकर ही इनका तथा भगवान्‌का सतत स्मरण करता है। वह विषय-जगत्‌का और उन विषयोंके त्यागका स्मरण नहीं करता। वह इनके, भगवान्‌के द्वारा ग्रहण किये जानेका स्मरण करता है। इसमें यह बड़ा अन्तर है। जगत्‌को दुःखमय जानकर विरक्त होना, उसे छोड़ना—यह दुःखका स्मरण कराता है, भयका स्मरण कराता है। इसमें रहेंगे तो बड़ा भय होगा, बड़ी दुर्दशा होगी, बड़ा विषाद-शोक प्राप्त होगा, बड़ी हानि होगी, यह बड़ा ही दुःखद है, बड़ा भयानक है—इस प्रकारकी धारणा होती है और उस साधनामें यह आवश्यक और उचित भी है। उस साधनाका यह एक स्वरूप है। विषयोंमें वैराग्य होना ही चाहिये। परंतु यह रागकी साधना वैराग्यकी साधना नहीं है। इसीलिये इसका नाम रागात्मिका, रागानुगा या प्रेमाभक्ति है। इस रागकी साधनामें जगत्‌की, जगत्‌के दुःखोंकी, उनके त्यागकी स्मृति करनेकी आवश्यकता नहीं है। एकमात्र भगवान्‌की स्मृतिमें जगत्‌की आत्यन्तिक विस्मृति हो जाती है। वह केवल भगवान्‌की स्मृतिको साथ रखकर चलता है। उसे निरन्तर भगवान्‌के इन पाँचों दिव्य विषयोंका अनुभव होता रहता है। कभी वह भगवान्‌का मधुर-मनोहर स्वर सुनता है, भगवान् कैसे मीठे बोलते हैं, नन्दबाबासे बोल रहे हैं, यशोदा मैयासे मचल रहे हैं, कौसल्या मैयासे हँस-हँसकर बोल रहे हैं, कितने मीठे हैं। इनके शब्दोंमें कैसा माधुर्य है, ये स्वर कितने-कितने आकर्षक हैं। बेचारे कवियोंने स्वर-माधुरी, रूप-माधुरी, गति-माधुरी, वर्ण-माधुरी आदिमें भगवान्‌के अंगोंकी पशु-पक्षियोंसे उपमा दी। पर वास्तवमें भगवान्‌का सौन्दर्य कभी पशुओं-पक्षियोंकी तुलनामें थोड़े ही आता है। वह तो सर्वविलक्षण है। रसमार्गके साधक पहले भावनासे अपने इच्छानुसार मनमाने रूपमें उनकी धारणा करते हैं,

यों भगवान् पहले उनकी भावनामें आते हैं। फिर भगवान् उनमें उस भोगके स्थानमें अपने सच्चे शब्दको, सच्चे रसको, सच्चे स्पर्शको, सच्चे रूपको और सच्चे गन्धको प्रकट कर देते हैं। तात्पर्य यह कि इस रसका साधक चलता है इन्हींको लेकर, इनमें रागको लेकर। भगवान्में रागको लेकर चलना और जगत्में विरागको लेकर चलना—ये साधनके दो विभिन्न स्वरूप होते हैं। दोनों ही अच्छे हैं, दोनोंका फल भी तत्त्वकी दृष्टिसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति है। फलमें तात्त्विक भेद नहीं है, पर भेद इस मानेमें है कि इस रसमें कहीं दु:खकी गन्ध नहीं है, दु:खका भय नहीं है, दु:खजनित विषाद नहीं है और कहीं किसी वस्तुके त्यागकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल सुख-ही-सुख है, केवल मधुरता-ही-मधुरता है, केवल आनन्द-ही-आनन्द है। सारी वस्तुएँ भगवान्की पूजाकी सामग्री होनेके कारण किसीके त्यागकी आवश्यकता नहीं है। इस रसका साधक प्रारम्भसे ही—पहलेसे ही भगवान्के रागको साथ लेकर चलता है। पूर्वरागके जो लक्षण हैं, उससे यह विदित हो जाता है कि कहीं तो भगवान्की मुरली-ध्वनि सुनकर वह मोहित हुआ, तो उस मुरली-ध्वनिका ध्यान होने लगा। कहीं किसीके द्वारा भगवान्के गुणोंकी चर्चा सुनी तो उससे उन गुणोंका चिन्तन होने लगा। कहीं किसी सखीके द्वारा भगवान्की मधुर लीलाओंका वर्णन सुना, किसी दूत या दूतीके द्वारा, किसी भगवद्भक्तके द्वारा उनकी प्रेमपराधीनताका वर्णन सुना तो उन लीलाओंका स्मरण होने लगा। कहीं भगवान्के अंग-सुगन्धकी चर्चा सुनी—कहीं जा रहे थे, दूरसे सुगन्ध आ गयी, अब वह सुगन्ध तो नहीं रही, पर उसका स्मरण होने लगा। कहीं स्वप्नमें भगवान्के दर्शन हो गये तो वहाँ भगवद्रूपके स्वप्नके दर्शनका स्मरण करता हुआ साधनमें लग गया। अभिप्राय यह कि उसकी साधनामें प्रत्येक भगवान्के विषयमें ही राग रहता है। वह सतत भगवद्विषयोंका अनुरागी होकर

चलता है और जितने भी भगवद्विषय हैं, सब-के-सब परम मधुर हैं, सब परम उज्ज्वल हैं, सब परम सुखस्वरूप हैं, सब परम आनन्दमय हैं। अतः रागकी साधनामें आनन्द-ही-आनन्द है।

अवश्य ही इसमें एक डर है। वह डर है कि कहीं विषयोंमें—भोगोंमें वह भगवान्की चीजको न मान ले। भोगोंके त्यागकी तो आवश्यकता नहीं होती। भोग कहीं पड़े रहते हैं या वे भगवान्के भोग्य बन जाते हैं। उसको तो भगवान्की आवश्यकता है। वह भगवान्को साथ लेकर चलता है, पर कहीं भोगोंमें आसक्ति बनी रहे और भगवान्के नामपर कहीं उसका भोगोंमें प्रवेश हो जाय और भोग उसके जीवनपर छा जायँ तो बड़ी भारी दुर्दशा हो सकती है। इसलिये रसकी साधना जहाँ बड़ी मधुर, बड़ी आनन्ददायिनी है, वहाँ उसमें यह एक बड़ा खतरा है। किंतु वैराग्यकी साधनामें, जहाँ पहलेसे ही विवेकके द्वारा भोग-वैराग्य प्राप्त है, यह खतरा नहीं है। पर उसमें खतरा नहीं है तो वह आनन्द भी नहीं है। हमारे साथ-साथ भगवान् चलें और भगवान्के साथ-साथ हम चलें। हम भगवान्को देखते चलें, सुनते चलें, सूँघते चलें, चलते चलें और उनको छूते चलें। कितना बड़ा आनन्द है। चाहे जब भगवान्को चख लें, उनका रसास्वादन कर लें, भगवान्का स्पर्श प्राप्त कर लें, भगवान्के स्वर सुन लें, भगवान्की हम सुगन्धको सूँघें, भगवान्के सुन्दर मधुर रूपको देखें। कितनी बढ़िया चीज है। इन चीजोंका रस लेते हुए चलें। रसके साधककी यह विशेषता है कि वह इन चीजोंका रस लेता हुआ चलता है और यदि ये सब चीजें भगवान्को लेकर हैं तो वहाँ भोग आते ही नहीं। क्यों नहीं आते? इसीलिये कि वहाँ वे रह नहीं सकते—वैसे ही, जैसे सूर्यके सामने अन्धकार नहीं टिक सकता। वास्तवमें यह पवित्र रस-साधन ही ऐसा है, जिसमें इन्द्रियदमन तथा विषयत्यागकी आवश्यकता नहीं

होती, वरं समस्त इन्द्रियाँ और सम्पूर्ण विषय सच्चिदानन्दमय भगवान्का नित्य संस्पर्श प्राप्त करके धन्य हो जाते हैं। पर वस्तुतः मूलमें ही भूल रहती है। प्रारम्भमें ही मामला गड़बड़ रहता है। भगवान्के रसका नाम लेते हैं और होती है भोगलिप्सा। शुरुआतमें—आरम्भमें जब गलती रहती है, तब उसका फल भी वैसा ही होगा। किंतु वास्तवमें जो रसके मार्गपर चलनेवाले हैं, उनके पास भोग आ नहीं सकते। वे तो सदा भगवान्के रागमें संलग्न रहते हैं—वहाँ ये भगवद्विषयक रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श होते हैं। इनके स्थानपर संसारके रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श नहीं आ सकते। इनका प्रवेश उसमें वैसे ही नहीं होता, जैसे बर्फमें गरमी नहीं आती, जैसे अमृतके साथ विष नहीं मिलता। यदि कहीं विष आकर अमृतमें मिले तो अमृत उस विषको खा जायगा, विष भी अमृत बन जायगा। अमृतमें जो शक्ति है, वह शक्ति विषमें नहीं है। अमृत विषमें मिलकर विष नहीं होगा, किंतु विषको अमृत बना लेगा। इसी प्रकारसे संसारके भोग भी भगवद्रसको कभी दूषित नहीं बना सकते। ये स्वयं वहाँ जाकर पवित्र बन जाते हैं। जो भी संसारका भोग भगवान्के साथ समर्पित हो जाता है, वह पवित्र बन जाता है। रूप देखना इन्द्रियतृप्तिकर भोगके लिये और रूप देखना भगवान्के पवित्र सौन्दर्य-सुखका आस्वादन करनेके लिये दोनोंमें बड़ा अन्तर होता है। अतः भगवान्के साथ सम्बन्धित होनेपर जितने भी दोष हैं,—भले ही उनके नाम काम, क्रोध, लोभ ही रहें—वे पवित्र प्रेमके ही अंग बन जाते हैं। कहा गया है—'**प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रयाम्।**' गोपांगनाओंके 'प्रेम' को 'काम' कहते हैं, पर वह हम लोगोंवाला सद्वृत्तिनाशक दूषित काम थोड़े ही है। 'काम' शब्दसे चिढ़ नहीं होनी चाहिये। '**सोऽकामयत्**' भगवान्ने कामना की, '**एकोऽहं बहु स्याम्**' 'मैं एकसे ही बहुत हो जाऊँ।' और हो गये। भगवान्ने अर्जुनसे कहा—

'**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।**'

'अर्जुन! प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध काम मैं हूँ, धर्मसे अविरुद्ध काम मेरा स्वरूप है।' अत: 'काम' शब्दसे डरनेकी जरूरत नहीं। काम यदि भगवद्रसकाम हो,—भगवान्‌के गुणानुवादकी कामना खूब जगे, भगवान्‌के मिलनकी कामना खूब बढ़े, भगवान्‌के गुण-श्रवणकी कामना कभी मिटे ही नहीं। ये सब भी काम ही हैं, पर ये काम वह दूषित काम नहीं है। भगवत्काम 'प्रेम' है और विषय-प्रेम 'काम' है। वैसे विषय-प्रेम भी काम है और भगवत्प्रेम भी काम है; पर दोनोंमें बड़ा अन्तर है। भगवान्‌के रसके मार्गमें ये भोग बाधक नहीं हो सकते। ये बाधक वहीं होते हैं, जहाँ मूलमें भूल होती है। इस रसके मार्गमें पहली चीज है भगवान्‌में पूर्वराग होना—केवल भगवान्‌में। जीवनमें ऐसा मौका लगता रहे, जिसमें बाहरी ज्ञान-विज्ञानकी चर्चा न हो, चर्चा हो केवल और केवल अपने श्यामसुन्दरकी, अपने भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्यकी—उनके रसकी, उनके स्वरूपकी, उनके रूप-तत्त्वकी। किसीकी बात सुनें, किसीकी बात कहें, किसीकी बात सोचें तो क्या होता है? उसमें पूर्वराग पैदा होता है। वह यदि भोगोंमें हो गया तो आसक्ति, कामना, क्रोधके क्रमसे सर्वनाशका कारण होगा और वह यदि भगवत्स्वरूपमें हो गया तो वह क्रमश: प्रेमके मार्गमें आगे बढ़ता हुआ महाभावके उच्चस्तरपर ले जायगा। भगवत्स्वरूपमें रागका मार्ग आगे बढ़ेगा सदा निरापदरूपमें। इसमें बाधा नहीं आयेगी। क्यों नहीं बाधा आयेगी? यह एक बड़ी विलक्षण बात है। भगवान्‌को किसी वस्तुकी चाह नहीं है, उनको किसी वस्तुकी क्षुधा-पिपासा नहीं है; परंतु यह भगवान्‌का स्वभाव है कि वे प्रेमरसके भूखे-प्यासे बने रहते हैं। भगवान्‌को प्रेमकी क्षुधा-पिपासा लगी रहती है, जब कि प्रेमस्वरूप भगवान् ही हैं। जहाँपर भगवान्‌को विशुद्ध प्रेम-रस मिलता है, वहाँ भगवान् उस रसका आस्वादन करनेके लिये मनका निर्माण कर लेते हैं। महारासरात्रिमें भगवान्‌ने मनका निर्माण कर लिया

रमणके लिये '**रन्तुं मनश्चक्रे।**' वह रमण क्या भोग-रमण था या क्या वह योगियोंका आत्मरमण था? दोनों ही नहीं, दोनोंकी ही भगवान्‌को आवश्यकता नहीं। दोनोंसे परे भगवान्। यह तो भगवान्‌का स्वरूप-वितरण था, भगवान्‌का रसास्वादन था, रस-वितरण था। रस-वितरणमें सुखमय भगवान्‌को सुख मिलता है। यह बड़ी विलक्षण बात है। जो नित्य निष्काम हैं, उनमें कामना उत्पन्न हो जाती है इस प्रेमसे। तो जहाँ प्रेमीजनको भगवान् देखते हैं, वहाँ वे उससे मिलनेको स्वयं आतुर हो जाते हैं और जहाँ भगवान् मिलनेको आतुर हुए, वहीं उसके मार्गके सारे विघ्न—सारी बाधाएँ अपने-आप हट जाती हैं। यह बड़े सुभीतेकी बात है। रसके मार्गमें, यदि यह ठोस रसके मार्गमें चल रहा है तो, वे रसिकशेखर भगवान् स्वयं रस-पानके लिये—रसास्वादनके लिये उसको शीघ्र-से-शीघ्र अपनी संनिधिमें बुला लेंगे। मार्गकी दूरीको, मार्गके व्यवधानोंको, मार्गके विघ्नोंको वे स्वयं सहज ही हटा देंगे—अपने-आप; क्योंकि वहाँपर वह भक्त ही नहीं, अपितु स्वयं भगवान् भी भक्तकी भाँति इच्छुक हो जाते हैं रस—मधुर दिव्य रसका पान करनेके लिये। भगवान्‌में इच्छा पैदा नहीं होती, वे स्वयं ही इच्छा बन जाते हैं। भगवान् सर्वसमर्थ हैं। वे स्वयं इच्छारूप हो जाते हैं। इसलिये यह रसका मार्ग बड़ा विलक्षण है। यह परम पवित्र है—इसलिये कि इसमें प्रारम्भसे ही भोगोंकी आसक्तिका अभाव रहता है। तभी तो भगवान्‌में राग होता है। जिसमें भोगासक्तिका अभाव है, जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ दुःख नहीं, जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ विषाद नहीं और जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ भय नहीं। जगत्‌में तो दो ही चीजें हैं। हजारों-हजारों 'भय' के स्थान हैं, सैकड़ों-सैकड़ों 'शोक' के स्थान हैं—'**भयस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च।**' जो प्रिय वस्तु, जो ममताकी वस्तु हमें प्राप्त है, वह कहीं चली न जाय—यह 'भय' हम सबको लगा होता है; और

वह वस्तु चली गयी तो फिर रोना है—शोक है, विषाद है। ये भय और शोक हैं और इन्हींमें सारा संसार डूबा हुआ है। कौन संसार? जो विषयासक्त है—भोगासक्त है। भोगासक्तिके साथ भय, विषाद, शोक रहेंगे ही। इनसे वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। किंतु जहाँ भगवान्का राग जगता है, वहाँ भोगासक्ति नहीं होती और वह भगवदनुराग बढ़ते-बढ़ते अत्यन्त विशाल भावका—प्रेमका समुद्र बन जाता है। फिर भी उसका बढ़ना बंद नहीं होता; क्योंकि वह उसका सहज स्वभाव है। उस नित्य वर्धनशील महान् रस-सागरमें भक्त-भगवान्—प्रेमी-प्रेमास्पद—दोनों लीला करते हैं। ये लीलामें नित्य दो होकर नित्य एक हैं और नित्य-एक होकर नित्य दो हैं। भगवान्का यह विलक्षण रस-साम्राज्य है। वस्तुतः यह रस-साम्राज्य भगवान्से भिन्न नहीं है तथापि सर्वथा भिन्न है। इस रस-साम्राज्यमें जो रसिक नहीं हैं, उनका प्रवेश नहीं होता—वे चाहे महाज्ञानी हों। याज्ञवल्क्य रसके सागरमें नहीं आ सकते, नारद आ सकते हैं, शुकदेव आ सकते हैं। शुकदेव परम ज्ञानी होते हुए भी इस रस-सागरमें डुबकी लगाया करते हैं। इसलिये यह रस-सागर बड़ा अनुपम, अतुल, विलक्षण है। इसमें प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद वस्तुतः एक भगवान् ही होते हैं, पर सदा ही तीन बनकर रसास्वादन करते-कराते रहते हैं। यह अनादिकालीन है, अनन्तकालीन है, इसमें कभी विराम नहीं, कभी इसमें रुकावट नहीं, कभी इसका बंद होना नहीं, कभी इसका ह्रास नहीं, कभी इसका विनाश नहीं। यह नित्य नव रूपमें प्रतिक्षण बढ़ता हुआ वर्तमान रहता है।

चरम और परम उपासनाका सुधा-मधुर फल—भगवत्प्रेम

'भाव' जब चित्त-प्रदेशमें निश्चल हो जाता है, तब वह 'स्थायिभाव' कहलाता है। वैष्णवशास्त्रोंके अनुसार 'कृष्णरति' या 'भगवद्रति' ही 'स्थायिभाव' है। भगवद्रतिका प्रत्येक 'स्तर' 'स्थायिभाव' ही है, परंतु वह एक ही भाव चित्तवृत्तिके भेदसे विभिन्न रूपोंमें प्रकाशित होता है। आचार्य भरतने रसके आठ विभाग किये हैं—शृंगार, वीर, भयानक, रौद्र, बीभत्स, अद्‌भुत, करुण और हास्य। किसी-किसीने 'शान्त' रसको नवाँ भाव माना है। वैष्णव-महात्माओंने भगवद्रसके रूपमें रसोंका विभाजन करते हुए रति या स्थायिभावके पाँच भेद किये हैं—'शान्ति', 'प्रीति', 'सख्य', 'वात्सल्य' और 'माधुर्य' (प्रियत्व)। इन पाँच स्थायिभावोंके विकासमें पाँच रसोंका उदय होता है। वे हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। यह अनिवार्य नहीं है कि इनका क्रम विकास ही हो, पर यह निर्विवाद है कि अगले-अगले रसमें पिछले-पिछले रसकी निष्ठा अवश्य रहती है। जैसे आकाशादि पंचभूतोंके गुण अगले-अगले भूतोंमें वर्तमान रहते हैं, वैसे ही इस क्षेत्रमें भी रसोंकी स्थिति होती है। जैसे पृथ्वीमें पाँचों गुणोंकी स्थिति है, वैसी ही माधुर्यमें शान्त-दास्यादिके समस्त गुणोंकी विद्यमानता है। नीचेके उदाहरणसे समझिये—

आकाश या व्योममें— शब्द एक गुण है।

वायु या मरुत्‌में—शब्द, स्पर्श— दो गुण हैं।

अग्नि या तेजमें—शब्द, स्पर्श, रूप—तीन गुण हैं।

अप् या जलमें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस—चार गुण हैं।

आनन्दका। दोनों साथ-साथ चलते हैं। क्यों साथ चलते हैं? यह बिलकुल युक्तिसंगत बात है। जिसके लिये वे रोते हैं; उसकी स्मृति है, स्मृति न हो तो किसके लिये रोना और स्मृति है तो उसके सांनिध्यका आनन्द साथ है। अतः रोना और हँसना—ये दोनों इस रसके साधनमें साथ-साथ चलते हैं। वस्तुतः वह रोना भी हँसना ही है। वह रोना भी मधुर है, मधुरतर है। फिर एक बात—ये मिलन और वियोग प्रेमके दो समान स्तर हैं। इन दोनोंमें ही प्रेमीजनोंकी भाषामें, प्रेमीजनोंकी अनुभूतिमें समान 'रति' है। तथापि यदि कोई उनसे पूछे कि 'तुम दोनोंमेंसे कौन-सा लेना चाहते हो, एक ही मिलेगा—संयोग या वियोग?' यह बड़ा विलक्षण प्रश्न है। जो प्राणाराम है, जो प्राणप्रियतम है, जो प्राणाधार है, जिसका क्षणभरका बिछोह भी अत्यन्त असह्य है, जिसके बिना प्राण नहीं रह सकते, वह मिले या उसका वियोग रहे? हमसे पूछा जाय कि 'तुम दोनोंमेंसे कौन-सा चाहते हो, तो स्वाभाविक हम यही कहेंगे—'हम मिलन चाहेंगे, संयोग चाहेंगे वियोग कदापि नहीं।' पर इन प्रेमियोंकी कुछ विलक्षण—अनोखी रीति है। वे कहते हैं कि इनमेंसे यदि एक मिले तो हम वियोग चाहते हैं, संयोग नहीं चाहते। भाई, क्यों नहीं चाहते ! बड़ी विलक्षण बात है। तो कहते हैं कि वियोगमें संयोगका अभाव नहीं है; यद्यपि वियोगमें बाहरसे दर्शन नहीं है, बाहरी मिलन नहीं है, तथापि अभ्यन्तरमें, अन्दरमें मधुर मिलन हो रहा है। मिलनका अभाव तो है ही नहीं। और असली मिलन होता भी है मनका; हमारे सामने कोई वस्तु रहे भी और हमारी खुली आँखें भी हैं, पर मनकी वृत्ति उस आँखके साथ नहीं है तो सामनेवाली वस्तु आँखोंके सामने रहनेपर भी दीखेगी नहीं। योगसाधनमें तो ऐसा एक स्तर भी होता है कि जहाँपर कहते हैं कि आँखें खुली हैं, पर कुछ दीखता नहीं है। यह क्यों होता है। इसलिये कि आँखोंमें जो देखनेवाला है, जो देखनेकी वृत्ति है, वह नहीं रहती।

लुटाकर स्वेच्छासे फकीर बना है और एक दूसरेको डाकुओंने लूटकर घरसे निकाल दिया है। दोनों ही घर और धनसे रहित हैं, पर फकीर सुखी है और लुटा हुआ दुःखी; क्योंकि उनमें फकीरकी अपनी स्थितिमें अनुकूल भावना है और लुट जानेवालेकी प्रतिकूल। यदि मनुष्य भगवत्प्राप्तिमें सहायरूप मानकर भोग-वस्तुओंके अभावको भगवत्कृपासे प्राप्त परम हितकी स्थिति मान ले तो उसकी अनुकूल भावना हो जायगी और वह उसमें परम सुखी हो जायगा। श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

अथवा—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

बात ठीक ही है— हम यदि किसीके माता, पिता, सुहृद्, भाई, बन्धु, स्वामी, पत्नी हैं और उससे हमारा यथार्थ प्रेम है तो हम उसे उसी पथपर ले जाना या चलाना चाहेंगे, जो उसके भविष्यको उज्ज्वल और सुखमय बनानेवाला है। जो ऐसा उपदेश देते हैं कि जिसके पालनसे उसका अहित होता है, भविष्य अन्धकारमय होता है, उसे नरकोंमें जाना पड़ता है—वे तो उसका प्रत्यक्ष ही बुरा करते हैं। इस प्रकार चोरी, जारी, असत्य, हिंसा आदिमें लगानेवाले तो वस्तुतः उसके वैरी ही हैं, वे स्वयं भी नरकगामी होते हैं और अपने उस आत्मीयको भी नरकोंमें ढकेलनेमें सहायक होते हैं। देवर्षि नारदजीने कहा है—

पुत्रान् दारांश्च शिष्यांश्च सेवकान् बान्धवांस्तथा।
यो दर्शयति सन्मार्गं सद्गतिस्तं लभेद् ध्रुवम्॥

क्षिति या पृथ्वीमें— शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— पाँच गुण हैं। इसी प्रकार शान्तादि रसोंको समझना चाहिये।

शान्तरस—निष्ठामय है।

दास्यरस—निष्ठा और सेवामय है।

सख्यरस—निष्ठा, सेवा और विश्रम्भ (संकोच-शून्यता) मय है।

वात्सल्यरस—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ और ममतामय है।

माधुर्य— निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ, ममता और सम्पूर्ण आत्मसमर्पणमय है। इनमें सर्वप्रथम है— शान्तरस ! इसकी आधारभूता है—स्थायिभावकी शान्तिरति। शान्तिका अर्थ 'शम' है। श्रीमद्भागवतके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णमें निरन्तर अनुराग होना ही 'शम' है और ऐसा अनुराग जहाँ होता है, वहाँ लौकिक-पारलौकिक भोग-विषयोंमें विराग होता ही है। भगवान्में एक ऐसी निष्ठा होती है, जिससे विषय-भोगोंमें विरति स्वयमेव हो जाती है। ऐसे शान्तरसके भक्तके जीवनद्वारा भगवान्की भक्तिकी आनन्ददायिनी धारा बहती रहती है। शान्तरसके भक्तमें भगवान्में निर्बाध निष्ठा, समस्त दैवी सम्पदाके गुणोंका समावेश, इन्द्रिय और मनपर विजय, दोष-दुर्गुणोंका अभाव, तितिक्षा, श्रद्धा, निष्कामभाव, दृढ़ निश्चय आदि गुण स्वभावगत होते हैं। यहाँ भोगवासना और भोगासक्तिका अभाव होता है। इसी शान्तरसकी मूल भित्तिपर 'विशुद्ध भगवत्प्रेमका' महान् प्रासाद निर्मित होता है।

पर इस शान्तरसमें भगवान्के साथ कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहता। इसीलिये रसके आरोहण-क्रमकी दृष्टिसे वैष्णव महानुभावोंने शान्तरसको सबसे नीचा स्थान दिया है। इसका विकास होनेपर एक प्रीतिरसका उदय होता है, जो इसके ऊपरकी अवस्था है। उसे दास्यरस कहते हैं। 'प्रेम' की यह आरम्भिक अवस्था है।

इस भावके भक्तकी निरन्तर यह भावना रहती है कि मैं भगवान्का

अनुग्राह्य हूँ, अनुग्रहका पात्र हूँ। अनुग्रह-पात्र 'दास' भी हो सकता है अथवा 'लाल्य' भी। अतः इस रसमें दो प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं— 'सम्भ्रम-प्रीति' और 'गौरव-प्रीति'।

इनमें 'दास' भक्त अनुग्रहका पात्र होनेके कारण अपनेको भगवान्से बहुत ही नीचा समझता है और भगवान्की कृपा-प्राप्तिके लिये उनको प्रसन्न करना अपना कर्तव्य समझता है। इसीसे 'सम्भ्रम' का भाव उत्पन्न होता है। 'सम्भ्रम' में भगवान्के प्रति भक्तका पराया भाव होता है। वह सदा ही अपने-आपको अत्यन्त हीन समझकर भगवान्की सेवा करनेको समुत्सुक रहता है। कभी संकोचरहित नहीं हो सकता और सदा उनके अनुग्रहकी इच्छा करता है। यही 'सम्भ्रम-प्रीति' है।

'गौरव-प्रीति' युक्त भक्त अपनेको सदा भगवान्के द्वारा रक्षित और लालित-पालित होकर रहनेकी सतत कामना करता है। यह तो परम सत्य है ही कि परम पुरुष अखिल-विश्व-ब्रह्माण्डनायक भगवान् ही चराचर प्राणि-पदार्थमात्रके रक्षक और पालक हैं। परंतु धर्मके क्षेत्रमें उपास्य और उपासकमें प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना आवश्यक है। धर्मक्षेत्रमें व्यक्तिगत भावना और कामनाका एक विशिष्ट स्थान है। ये भावना-कामनाएँ प्रत्येक मनुष्यके मनमें होती हैं— पर वे प्रायः सुप्त रहती हैं। अनुकूल संगादिके द्वारा उनकी अधिकाधिक अभिव्यक्ति होती है। तब वह भक्त इस भावनामें निमग्न हो जाता है कि भगवान् मेरे रक्षक, पालक तथा विधाता हैं। एकमात्र श्रीकृष्ण ही मेरे प्रभु और रक्षक हैं। इसीको शास्त्रोंमें 'गौरव' कहा है। इस भावमें जिस विचारसे सुख मिलता है, उसे 'गौरव-प्रीति' कहते हैं। यही 'अनन्यभाक् भजन' है।

'दास' भक्तोंके चार प्रकार माने गये हैं—१-अभिकृत, २-आश्रित, ३-पारिषद् और ४-अनुग। 'अभिकृत' दासभक्तोंमें ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर, वरुण आदि मुख्य माने जाते हैं। 'आश्रित' दासभक्तोंके तीन भेद हैं—

(१) शरणागत, (२) ज्ञाननिष्ठ (३)सेवानिष्ठ। विभीषण, सुग्रीव, जरासन्धके कारागारमें बन्दी राजागण और कालियनाग आदि 'शरणागत' हैं। भगवान्‌के दिव्य समग्रस्वरूप तथा लीलातत्त्वको जानकर, जिन महानुभावोंने मोक्षकी इच्छाका सर्वथा परित्याग कर केवल भगवान्‌का ही परमाश्रय लेकर उनके भजन-रसके आस्वादनमें ही अपनेको लगा रखा है—ऐसे सनत्कुमार, शौनक, नारद और शुकदेव आदि 'ज्ञाननिष्ठ' हैं। और जिन्होंने भुक्ति-मुक्तिकी सारी स्पृहासे अतीत होकर केवल भगवत्सेवामें ही अपनेको लगा रखा है और दिये जानेपर भी मुक्तिको स्वीकार न करके जो सदा सेवापरायण ही हो रहे हैं, ऐसे श्रीहनुमान्, चन्द्रध्वज, बहुलाश्व, इक्ष्वाकु, पुण्डरीक आदि 'सेवानिष्ठ' दास भक्त हैं। 'पारिषद्' भक्त वे हैं जो सारथि आदि कार्योंके द्वारा सेवा करते हैं तथा सेवाके लिये साथ रहते हुए समय-समयपर सलाह आदि भी दिया करते हैं—जैसे उद्धव, विदुर, संजय, भीष्म, शक्रजित् आदि। अब रहे 'अनुग' दासभक्त, जो सदा प्रभुकी सेवामें ही लगे रहते हैं। ये दो प्रकारके हैं—'पुरस्थ' और 'व्रजस्थ'। सुचन्द्र, मण्डल, स्तम्ब और सुतम्बादि 'पुरस्थ' हैं; और रक्तक, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, सुविलास, पत्रक, पत्री, प्रेमकन्द, आनन्द, चन्द्रहास, पयोद, शारद और रसद आदि 'व्रजस्थ' भक्त हैं। इतना स्मरण रहे कि भगवान्‌का दास न किसी दूसरेका 'दास' होता है न किसी दूसरेको 'दास' बनाता है।

परंतु इस दास्यरसमें एक कमी है, जो दासके द्वारा ऐसे कर्म-आचरण नहीं होने देती, जिनसे भगवान् श्रीकृष्णको विशेष आनन्द प्राप्त हो। वह है—अपनेमें हीनता, दीनता और मर्यादाका भाव, जो सदा ही जाग्रत् रहता है और सदा ही सम्भ्रम-संकोचका उदय कराता रहता है। अतएव इससे भी आगे 'सख्यभाव' में पहुँचना है। सख्यका स्थायिभाव 'सख्य-रति' है। सख्य होता है—दो समान गुणधर्मा मनुष्योंमें।

उसमें समानताके भावकी प्रीति होती है, इससे भक्त अपनेको दीन-हीन नहीं समझता और परस्पर गुप्त-से-गुप्त रहस्यकी बात भी छिपायी नहीं जाती। दास्यरसके मर्यादा संकोच-सम्भ्रमका प्रतिबन्ध इसमें नहीं है, न उतना मान-सम्मान है।

सख्यरसके भक्तोंके भी दो भेद हैं—

'पुरसम्बन्धी' (ऐश्वर्यज्ञानयुक्त) और 'व्रजसम्बन्धी' (विशुद्ध भक्तिमय)। अर्जुन, भीम, द्रौपदी, उद्धव, सुदामा ब्राह्मण आदि 'पुरसम्बन्धी' भक्त हैं। व्रजसम्बन्धी सख्य भक्तोंमें ऐश्वर्यज्ञान नहीं है, पर उनकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) सुहृद् सखा, (२) सखा, (३) प्रिय सखा और (४) प्रियनर्म सखा। भगवान् श्रीकृष्णसे कुछ अधिक उम्रके वात्सल्यभावसे युक्त, सदा-सर्वदा श्रीकृष्णकी देख-रेख रखनेवाले सुभद्र, भद्रवर्द्धन, मंडलीभद्र, गोभट, यक्षेन्द्रभट, भद्रांग, वीरभद्र, बलभद्र, महागुण और विनय आदि 'सुहृद् सखा' हैं। जो श्रीकृष्णसे कुछ कम उम्रके और श्रीकृष्णकी सेवा-सुखके ही अभिलाषी हैं—वे देवप्रस्थ, भानु, कुसुमपीड, मणिबन्ध, वरूथप, विशाल, वृषभ और ओजस्वी आदि 'सखा' हैं। जो श्रीकृष्णके समान उम्रके हैं, जिनमें वात्सल्य और दास्य-रसका सम्मिश्रण सर्वथा नहीं है। अपनेको श्रीकृष्णकी बराबरीका मानते हैं तथा जो श्रीकृष्णके साथ सदा निस्संकोच खेला करते हैं, कंधोंपर चढ़ा लेते हैं, स्वयं चढ़ जाते हैं, कभी मान करके रूठ जाते हैं तथा श्रीकृष्ण जिनको मनाते हैं, कभी श्रीकृष्णका जरा-सा भी मुख उदास देखते हैं तो रो-रो मरते हैं और अपने प्राण देकर भी उन्हें सुखी देखना चाहते हैं—वे श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, किंकण, स्तोककृष्ण, भद्रसेन, पुण्डरीक, अंशु, विटंक और विलासी आदि 'प्रिय सखा' हैं। और इन लोगोंसे भी अधिक भावयुक्त अत्यन्त अन्तरंग, गोपनीय लीलाओंके सहचर सुबल, अर्जुनगोप, वसन्त, गन्धर्व और उज्ज्वल

आदि 'प्रियनर्म सखा' हैं। इस सख्यरसके भक्तमें जगत्के सभी प्राणियोंके प्रति सहज 'मैत्री-भावना' हो जाती है।

सख्यरसमें कोई संकोच-सम्भ्रम न होकर विश्रम्भका भाव होनेपर भी एक कमी है। इसमें देश-काल-परिस्थितिकी कुछ ऐसी बाधाएँ रहती हैं, जिनसे भक्तका सारा समय और ध्यान केवल इसी भावमें नहीं लगा रहता। वे बाधाएँ बहुत अंशमें वात्सल्य-रसमें पहुँच जानेपर हट जाती हैं।

वात्सल्य-रसका स्थायिभाव 'वात्सल्य-रति' है। इसमें एक विचित्र ममताका उदय होता है। श्रीकृष्ण मेरा लाल है, मेरा दुलारा बच्चा है। यहाँ भगवान् उस भक्तके पुत्र होकर रहते हैं। श्रीकृष्ण यशोदामैयाका स्तन्यपान करके तथा नन्दबाबाकी गोदमें बैठकर जो सुख-लाभ करते हैं और जो सुख-सौभाग्य उनको देते हैं, उसकी कहीं कोई तुलना नहीं। इस वात्सल्यरसकी ऐसी विलक्षणता है कि यह भगवान्की भगवत्ताको सर्वथा छिपा-सी देती है। नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी भगवान्के आनन्दांशसे सम्भूत देव-देवी ही हैं। वे भगवान्के स्वरूपका ज्ञान न रखते हों यह सम्भव नहीं है, तथापि वात्सल्यरसके आस्वादनके लिये इनके सामने भगवान् ही अपने सर्वलोक-महेश्वरत्वको, अनन्त ऐश्वर्यज्ञान-स्वरूपको नन्हेंसे नन्दकुमारके रूपमें छिपा लेते हैं। लीलाके लिये अपने उस ऐश्वर्य-स्वरूपकी कभी-कभी झाँकी भी करा देते हैं। भगवान्ने मिट्टी खानेके समय, दूध पीते समय, दामोदर-लीलामें ऐश्वर्य दिखाया, पर यशोदामैयाके उमड़ते मातृभावके सामने उसका कोई भी प्रभाव नहीं रह गया।

इस वात्सल्यरसमें स्नेहका महान् रस-समुद्र उमड़ता रहनेपर भी यही सर्वोच्च रस नहीं है। रसकी सर्वोच्च परिणति है—कान्त या मधुरभाव अथवा माधुर्य-रसमें। यह मधुर या परमोच्च उज्ज्वल रस शृंगाररसका अतीन्द्रिय दिव्यस्वरूप है। यहाँ इस बातको सदा स्मरण

रखना चाहिये कि इस माधुर्य-रसकी लौकिक नर-नारियोंके दाम्पत्य प्रेमसे कहीं भी, कोई भी समानता नहीं है। हम मनुष्योंमें प्रेम और स्नेहके जितने भी सम्बन्ध हैं सभी स्वार्थमूलक हैं। अपने सुखकी कामनासे संयुक्त हैं। पर यह भगवत्प्रेम-रस, जिसकी आस्वादनलीला व्रजमें हुई थी केवल और केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही है। लौकिक प्रेम अहंसे युक्त 'स्वार्थमूलक' है और यह माधुर्य-प्रेम त्यागपूर्ण 'प्रियतम-सुखमूलक' है। इसीसे वह 'काम' है और यह 'प्रेम' है। दोनोंमें उतना ही अन्तर है, जितना घोर अन्धकार और परमोज्ज्वल प्रकाशमें है। लौकिक प्रेम कितना ही श्रेष्ठ तथा पूर्ण हो, वह इस दिव्यभावतक पहुँचनेकी कदापि सामर्थ्य नहीं रखता। लौकिक मलिन विषयकामकी तो बात ही क्या है, मुक्तिकी कामना भी यहाँ सहज ही कलंक-सी त्याज्य है।

श्रीरुक्मिणीजी आदि महिषीगण, श्रीलक्ष्मीजी आदि नित्यदेवीगण और महाभाव-स्वरूपा श्रीराधिका आदि गोपांगनागण इस माधुर्य-रसकी आदर्श हैं। गाढ़ता और मृदुताके अनुसार इस माधुर्य रतिके तीन भेद माने गये हैं—साधारणी, समंजसा और समर्था।

भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारकालीलामें 'साधारणी', मथुरामें 'समंजसा' और वृन्दावनमें 'समर्था' रति है। यद्यपि द्वारकाकी महाभाग्यवती महिषियोंका प्रेम बहुत ही ऊँचा है और उनकी मन-बुद्धि सदा ही प्रियतम भगवान्‌के प्रति समर्पित है, पर उनका प्रेम-समर्पण वेद-विधिके अनुगत है। उनमें गृहस्थधर्मानुसार पुत्र-कन्यादिके लालन-पालनकी आशा और अपने स्वामीके द्वारा आत्म-सुख-प्राप्तिकी आकांक्षा भी है, यह 'साधारणी-रति' है। जिसमें पुत्र-कन्याके लालन-पालनादिकी तथा अपने रक्षणावेक्षणकी अपेक्षा नहीं है। प्रियतम श्रीकृष्णको सुख देना और उनसे सुख पाना 'आत्मसुख' और 'प्रियतम-सुख' का

मिश्रण यों 'समरस-विलास' है, वह 'समंजसा-रति' है। परस्पर गुणजनित सुख-प्राप्तिकी अभिलाषा होनेसे यह भी 'समर्था-रति' नहीं है। 'समर्था-रति' तो केवल श्रीगोपांगनाओंमें ही है, जहाँ स्व-सुख-वासनाके लेश-गन्धकी भी कल्पना नहीं है। रसराज आनन्दस्वरूप भगवान् इस शुद्ध प्रेमरसके आस्वादनमें ही परमसुख प्राप्त करते हैं। इन श्रीगोपीजनोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं—श्रीराधाजी। वे परम निर्मल, परम उज्ज्वल, दिव्यातिदिव्य रसकी अनन्त अगाध सागर हैं। श्रीराधारानी महाभावस्वरूपा हैं, श्रीलक्ष्मीजी, महिषीगण और व्रजसुन्दरियाँ आदि सभी श्रीकृष्ण-प्रेयसियाँ इन श्रीराधाकी ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। श्रीराधा ही अनन्त श्रीकृष्ण-कान्तागणकी बीजरूपा मूलशक्ति हैं। लक्ष्मीगण इनकी 'अंश विभूति' महिषीगण, 'वैभव-विलास' और व्रजांगनाएँ 'काव्य व्यूहरूपा' हैं।

श्रीराधाका यह प्रेम पूर्ण और असीम है। यह सदा बढ़ता ही रहता है। यह सर्वश्रेष्ठ विशुद्ध, सरल, निर्मल और श्रीकृष्ण सुखैकतात्पर्यमय एकमात्र श्रीकृष्ण सुखरूप है। यही परमोज्ज्वल, परमोत्कृष्ट नित्यानन्तरूप सर्वोच्च प्रेम परम पुरुषार्थ है। यही सर्वश्रेष्ठ चरम तथा परम उपासनाका सर्वोपरि सुधा-मधुर दिव्य फल है, जो श्रीराधाकी कृपासे प्राप्त हो सकता है।

श्रीगोपीजनके परम पवित्र त्यागभावका अनुकरण करके उनकी भाँति सर्वसमर्पणकी साधना (जिसे 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं) करनेसे श्रीराधाका कृपालाभ सम्भव है।

रास-रहस्य
[त्यागकी पराकाष्ठा]

आज रासपूर्णिमा है। 'रास' शब्दको सुनकर हमलोग प्रायः रास-मण्डलियोंद्वारा जो रासलीला होती है, इसीकी बात सोचते हैं, दृष्टि उधर ही जाती है। अवश्य ही यह रासलीला भी उसका अनुकरण ही है, उसीको दिखानेके लिये है, इसलिये आदरणीय है। परंतु भगवान्का जो दिव्य रास है, उसकी विलक्षणता थोड़ी-सी समझ लेनी चाहिये।

'रास' शब्दका मूल है—'रस' और रस है—भगवान्का रूप—**'रसो वै सः।'** अतएव वह एक ऐसी दिव्य क्रीड़ा होती है, जिसमें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें अभिव्यक्त होकर अनन्त-अनन्त रसोंका समास्वादन करता है—वह एक ही रस अनन्त रसरूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद, स्वयं ही आस्वादक, स्वयं ही लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमें लीलायमान हो जाता है। और तब एक दिव्य लीला होती है—उसीका नाम 'रास' है। रासका अर्थ है—'लीलामय भगवान्की लीला'; क्योंकि लीला लीलामय भगवान्का ही स्वरूप है, इसलिये 'रास' भगवान्का स्वरूप ही है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। भगवान्की यह दिव्य लीला तो नित्य चलती रहती है और चलती रहेगी, इसका कहीं कोई ओर-छोर नहीं। कबसे प्रारम्भ हुई और कबतक चलेगी—यह कोई बता भी नहीं सकता। कभी-कभी कुछ बड़े ऊँचे प्रेमी महानुभावोंके प्रेमाकर्षणसे हमारी इस भूमिमें भी 'रासलीला' का अवतरण होता है। यह अवतरण भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यके समय हुआ था। उसीका वर्णन श्रीमद्भागवतमें 'रासपंचाध्यायी' के नामसे है। पाँच अध्यायोंमें उसका वर्णन है। इन पाँच अध्यायोंमें सबसे पहले वंशीध्वनि है। वंशीध्वनिको सुनकर प्रेमप्रतिमा गोपिकाओंका अभिसार है; श्रीकृष्णके साथ उनका वार्तालाप

है, दिव्य रमण है, श्रीराधाजीके साथ श्रीकृष्णका अन्तर्धान है, पुनः प्राकट्य है। फिर गोपियोंद्वारा दिये हुए वसनासनपर भगवान्‌का विराजित होना है। गोपियोंके कुछ कूट प्रश्नोंका, गूढ़ प्रश्नोंका, प्रेम-प्रश्नोंका उत्तर है। फिर रास-नृत्य, क्रीड़ा, जलकेलि और वन-विहार—इस प्रकार अन्तमें परीक्षित्‌के संदेहान्वित होनेपर बंद कर दिया जाता है—रासका वर्णन।

यह बात पहलेसे ही समझ लेनी चाहिये। यह भगवान्‌की लीला है। याद रखनेकी बात है यह! इसीलिये इस रासपंचाध्यायीमें सबसे पहला शब्द आता है—'भगवान्'।

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १)

'**शरदोत्फुल्लमल्लिकाः**' का क्या अर्थ होता है। भला, शरद्-ऋतुमें मल्लिका कहाँसे प्रफुल्लित हुई? परंतु इसके विचित्र भाव हैं और विचित्र अर्थ हैं। यह अनुभवकी वस्तु है, कुछ कहा नहीं जा सकता। किंतु इतनी बात तो जान लेनी चाहिये कि यह जो कुछ है—सब भगवान्‌में है और भगवान्‌का है। जडकी सत्ता जीवकी दृष्टिमें होती है। अज्ञानयुक्त हमारी आँखोंमें है—उसकी सत्ता। भगवान्‌की दृष्टिमें जडकी सत्ता ही नहीं है। देह और देहीका जो भेदभाव है, वह प्रकृतिके राज्यमें है, जडराज्यमें है। अप्राकृतिक लोकमें, जहाँ प्रकृति भी चिन्मय है, वहाँ सब कुछ चिन्मय है। वहाँ अचित्‌की कहीं-कहीं जो प्रतीति होती है—वह केवल चिद्विलास अथवा भगवान्‌की लीलाकी सिद्धिके लिये होती है, वस्तुतः वहाँ अधिक कुछ है ही नहीं। इसलिये होता यह है कि जीव होनेके कारण हमारा मस्तिष्क, क्योंकि जड-राज्यमें है, इसलिये जड-राज्यमें हम प्राकृतिक वस्तुओंको जडरूपमें ही देखते हैं। इसीलिये कभी-कभी जब हम अप्राकृतिक वस्तुका भी विचार करते

हैं, जैसे—भगवान्‌का दिव्य लीला-प्रसंगका, भगवान्‌की रासलीला इत्यादिका, जो सर्वथा अप्राकृतिक चिन्मय वस्तु हैं, तो हमारी यह बुद्धि जडमें प्रविष्ट रहनेके कारण वहाँ भी जडको ही देखती है। इस प्रकार अपनी जड-राज्यकी धारणाओंको, कल्पनाओंको, क्रियाओंको लेकर हम उसीका दिव्य राज्यमें भी आरोप कर लेते हैं। अपनी सड़ी-गली-गंदी विषय-विष-कर्दमभरी आँखोंसे हम वही सड़ी-गली-गंदी चीजोंकी, हाड़-मांस-रक्तके शरीरकी—जिसमें विष्ठा-मूत्र-श्लेष्म भरा है—कल्पना करते हैं—इसीको देखते हैं। चिन्मय राज्यमें हम प्रवेश ही नहीं कर पाते और इसलिये दिव्य-रासमें भी हमलोग इन जड स्त्री-पुरुषोंकी और उनके मिलनकी ही कल्पना करते हैं। किंतु यह बात सर्वदा ध्यानमें रखनेकी है कि भगवान्‌का यह रास परम उज्ज्वल, दिव्य रसका प्रकाश है। जडजगत्‌की बात तो दूर रही, हम यहाँतक कह दें तो अत्युक्ति नहीं होगी कि ज्ञान या विज्ञानरूप जगत्‌में भी यह प्रकट नहीं होता। इतना ही नहीं, जो साक्षात् चिन्मय तत्त्व है, उस परम दिव्य, चिन्मय तत्त्वमें भी इस दिव्य रसका लेशमात्र नहीं देखा जाता। इस परम रसकी स्फूर्ति तो परम भावमयी श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा, कृष्ण-गृहीतमानसा उन श्रीगोपीजनोंके मधुर हृदयमें होती है और गोपीका वह मधुर हृदय नित्य-निरन्तर केवल भगवान्‌का ही स्वरूप है। इसलिये इस रासलीलाके अथाह स्वरूपको और परम माधुर्यको समझनेके लिये सबसे पहले यह समझना चाहिये कि यह 'भगवान्‌की दिव्य-चिन्मय लीला' है।

श्रीगोपांगनाएँ भगवत्स्वरूपा हैं, चिन्मयी हैं, सच्चिदानन्दमयी हैं। साधनाकी दृष्टिसे भी, इन्होंने जडशरीरका मानो इस तरहसे त्याग कर दिया। सूक्ष्मशरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, कैवल्यसे अनुभव होनेवाले आनन्दस्वरूपका भी त्याग कर दिया। इनकी दृष्टिमें क्या है? गोपियोंकी दृष्टिमें क्या है—यह बहुत गम्भीर समझनेकी वस्तु है, साधनाकी ऊँची-से-ऊँची साध्य वस्तु। गोपियोंकी दृष्टिमें है—केवल और केवल

चिदानन्दस्वरूप प्रेमास्पद श्रीकृष्ण प्रियतम और इनके हृदयमें श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला निर्मल परम प्रेमामृत छलकता रहता है नित्य। इसीलिये श्रीकृष्ण उनके हृदयके प्रेमामृतका रसास्वादन करनेके लिये लालायित रहते हैं, इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं उद्दीपन-मंचकी रचना की, गोपांगनाओंका आह्वान किया और इसीलिये शरद्की रात्रियोंको उन्होंने चुना और आमन्त्रित किया। यहाँपर यह कल्पना भी नहीं करनी चाहिये कि यहाँ कोई जड-राज्य है। गोपियोंके वास्तविक स्वरूपको पहचानना चाहिये। शास्त्रोंमें आता है—ब्रह्मा, शंकर, नारद, उद्धव और अर्जुन-जैसे महान् लोगोंने, बड़े-बड़े त्यागी ऋषि-मुनियोंने यहाँतक कि स्वयं 'ब्रह्मविद्या' ने दीर्घकालतक तप-उपासना करके गोपीभावकी थोड़ी-सी लीला देखनेके लिये वरदान प्राप्त किया। अनुसूया, सावित्री इत्यादि महान् पतिव्रता देवियाँ भी गोपियोंकी चरण-धूलिकी उपासिका थीं। एकमात्र श्रीकृष्णके अतिरिक्त कोई पति है ही नहीं—इस बातको देखनेवाली परम पतिव्रता तो एकमात्र श्रीगोपियाँ ही हैं। दूसरी कोई थी ही नहीं और कभी ऐसा कोई हुआ ही नहीं।

इस स्थितिका भाव जब देख सकें, तभी हम गोपियोंकी दिव्य लीलापर विचार कर सकते हैं, अन्यथा कदापि नहीं। सबसे पहले यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि यह 'भगवान्' की लीला है। भगवान् सच्चिदानन्दघन दिव्य हैं, अजन्मा हैं, अविनाशी हैं, हानोपादानरहित हैं, सनातन हैं, सुन्दर हैं। इसी प्रकार श्रीगोपांगनाएँ भी भगवान्की स्वरूपभूता, श्रीराधा-रानीकी कायव्यूहरूपा हैं। ये सब इनकी अन्तरंग शक्तियाँ हैं। इन दोनोंका सम्बन्ध भी नित्य एवं दिव्य है। भाव-राज्यकी यह लीला स्थूल शरीर, स्थूल मनके परेकी वस्तु है। इसीलिये जब गोपियोंका आवरण भंग हुआ, तब इस लीलामें लीलाके लिये भगवान्ने उनको संकेत किया—दिव्य रात्रियोंका। उसी संकेतके अनुसार भगवान्ने इनका आह्वान किया। यहाँसे आरम्भ होता है यह दिव्य मधुर प्रसंग।

बहुत संक्षेपमें तीन-चार श्लोकोंकी बात कह देनी है, अधिक नहीं, वह भी बहुत नीचे उतरकर।

भगवान्का यह मिलन कब होता है? जब और किसी वस्तुकी कल्पना भी मनमें नहीं रह जाती और जब भगवान्के मिलनके लिये चित्त अनन्यरूपसे अत्यन्त आतुर हो जाता है। यह दशा जब होती है और भगवान् जब इसको देख लेते हैं कि अब यह तनिक-सा संकेत पाते ही, सर्वस्वका त्याग तो कर ही चुका है, उस सर्वस्वके त्यागको प्रत्यक्ष करके आ जायगा। इस प्रकारकी स्थिति जब भगवान् देखते हैं, तब वे मुरली बजाते हैं और वह मुरली-ध्वनि उन्हींको सुनायी भी देती है। व्रजमें भी उस समय मुरली तो बजी और मुरलीकी जो ध्वनि दिव्य लोकोंमें पहुँच-पहुँचकर वहाँके देवताओंको भी स्तम्भित कर देती है, नचा देती है—उस मुरलीकी ध्वनिको भी उस दिन—आजके दिन—शारदीय रात्रिके दिन—सबने नहीं सुना। वह ध्वनि केवल उन्हींके कानोंमें गयी जो भगवान्से मिलनेके लिये आतुर थे, जिनका हृदय अत्यन्त उत्तप्त था भगवत्-मिलन-सुधाके लिये। केवल उन्हींके हृदयमें, उन्हींके कानोंमें भगवान्की वह मुरली-ध्वनि पहुँची। मुरली-ध्वनि क्या थी—भगवान्का आह्वान था; क्योंकि उनकी साधना पूर्ण हो चुकी थी। भगवान्ने अगली रात्रियोंमें उनके साथ विहार करनेका प्रेम-संकल्प जो कर लिया था।

मुरली बजी—तब क्या हुआ? बड़ी सुन्दर भावना है। बड़ी सुन्दर बात लिखी है श्रीमद्भागवतमें—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

(१०। २९। ४)

यह स्थिति होती है भगवान्‌के यथार्थ विरही साधककी। बड़ी ऊँची स्थिति है यह। कहते हैं—मुरली बजी और मुरलीकी गीत-ध्वनि उन्होंने सुनी। वह गीत कैसा था? 'अनंगवर्धक' था। ये जितनी भी संसारमें हम प्रकृतिकी वस्तुएँ देखते हैं, इसमें कोई भी अनंग नहीं है। प्रकृति स्वयं अनंग नहीं है, अंगवाली है और ये अंगवाली कोई भी चीज गोपियोंके मनमें नहीं रही।

किंतु वह 'अनंग' कौन है? भगवान् हैं—प्रेम है। और कोई भी अनंग है ही नहीं। इस अनंगकी, इस प्रेमकी वृद्धि करनेवाली वह वेणु-ध्वनि इनके कानोंमें पड़ी। किनके कानोंमें पड़ी? एक शब्द बहुत सुन्दर है—'**कृष्णगृहीतमानसाः**' जिनके मनोंको श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रखा था। गोपियोंका मन अपने पास नहीं, वे 'कृष्णगृहीतमानसा' हैं। जो कृष्णगृहीतमानसा नहीं होंगी, उनको भयके कारण मोहसे छुटकारा नहीं मिल सकता; वे भगवान्‌के आह्वानको नहीं सुन सकते, उनका मन तो घरमें फँसा है। उनको तो घरकी ही पुकार सुनायी देती है चारों तरफसे। मुरलीकी पुकार कहाँसे सुनायी देगी? मुरलीकी पुकार तो सारे व्रजमें गयी किंतु उन्हीं व्रजबालाओंने सुनी जो कृष्णगृहीतमानसा थीं। घरके अन्य लोगोंने नहीं सुनी; क्योंकि घरमें ही उनका मानस रम रहा था, घरने ही उनके मानसको पकड़ रखा था। किंतु ये कृष्णगृहीतमानसा व्रजबालाएँ कैसी थीं—इनके मनको श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रखा था। इनके पास इनका मन था ही नहीं। वैसे तो हमारे पास भी हमारा मन नहीं है। हमने भी खुला छोड़ ही रखा है उसे विषयके बीहड़ वनमें विचरनेके लिये। जहाँ चाहता है, हमको ले जाता है। किंतु यह यथार्थ खुला छोड़ना नहीं, यह तो किसीमें लगाकर छोड़ना है। विषयोंमें लगे हुए मनको हम खुला छोड़ना कहते हैं—पर वह तो विषयोंसे आबद्ध है। खुला छोड़नेका अर्थ क्या है? विषयोंसे सर्वथा इसको विमुख करके खुला छोड़ दें। जब हम विषयोंको मनसे निकालकर, विषयोंसे मनको

हटाकर मनको खुला छोड़ देंगे; जहाँ मन सचमुच निर्बन्ध हुआ कि 'भगवान् इसे ले जायँगे' यह बिलकुल सच्ची बात है।

भगवान् आते हैं, पर हमारे मनको खुला नहीं देखते। भगवान् आते हैं, पर हमारे मनको किसीके द्वारा पकड़ा हुआ देखते हैं, हमारे मनमें किसीको बैठा हुआ पाते हैं। तब भगवान् देखते हैं कि इसका मन तो अभी खाली नहीं है, बँधा हुआ है—तब वे लौट जाते हैं। किंतु गोपियोंने मनको खुला छोड़ दिया था। सब चीजोंसे मनको खोल दिया था। मनके सारे बन्धनोंको काट दिया था उन्होंने।

'ता मन्मनस्काः' अब क्या हुआ? जब मन इनका ऐसा हो गया, जिसमें संसार रहा नहीं तो भगवान्ने आकर उसको पकड़ लिया। और मनको पकड़कर क्या किया? गोपियोंके मनको अपने मनमें ले गये और अपने मनको उनके मनमें बैठा दिया। **'ता मन्मनस्काः'** का यही अर्थ है कि गोपियोंका अपना मन था नहीं और उनके मनमें श्रीकृष्णका मन आ बैठा, तो उनका मन कहाँ गया? जब हम गोपीभावकी बात करें तो उसके पहले यह देख लेना चाहिये कि हमारा मन संसारसे मुक्त होकर, खाली होकर, भगवान्के द्वारा पकड़ा जा चुका है या नहीं। भगवान्ने हमारे मनको पकड़ लिया है या नहीं। यदि नहीं पकड़ा है तो हम 'गोपी' नहीं बन सकते।

जिस वेणुगीतको भगवान्ने गाया, वह 'अनंगवर्धन' गीत था। अनंग—प्रेम, भगवत्प्रेमके बढ़ानेवाले उस गीतको उन लोगोंने ही सुना, जिन श्रीगोपांगनाओंका मन श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रखा था। उनको सुनते ही क्या हुआ? जिस प्रकार लोभी आदमीको, जो धनका अत्यन्त लोभी हो और उसको पता भी लग जाय कि अमुक जगहपर धन पड़ा है जाते ही मिल जायगा। धन लुट रहा है, तो वह कोई साथ नहीं बटोरेगा, सलाह नहीं करेगा कि अमुक-अमुक आदमी साथ चलो। जहाँ उसने बात सुनी कि भागा, चला, न किसीसे बातचीत की, न

किसीसे सलाह ली। कहते हैं—इसी प्रकार व्रजसुन्दरियोंने भी '**अन्योन्य-मलक्षितोद्यमाः**' किसीसे कहा नहीं कि हम जा रही हैं, तुम भी चलो। इसका एक कारण और भी आयेगा—आगे। उन्होंने किसीसे कहा नहीं; क्योंकि वे तो कृष्णगृहीतमानसा थीं। आह्वान मिलते ही बिना किसीको कहे-सुने चल दीं। चलीं कैसे? धीरे-धीरे नहीं, मौजसे नहीं, द्रुतगतिसे दौड़ीं। अपने-आपको रोक नहीं सकीं, ठहर नहीं सकीं, चालमें धीमापन नहीं ला सकीं—दौड़ीं—जितना तेज दौड़ सकती थीं। बताते हैं दौड़नेमें क्या हुआ '**जवलोलकुण्डलाः**' उनके कानोंके कुण्डल सब-के-सब अत्यन्त हिलने लगे। वे दौड़ पड़ीं इसीका यह एक संकेत बताते हैं। वे इतनी जोरसे चलने लगीं कि उनके कानोंके कुण्डल हिलने लगे। असलमें आभूषण भी वही हैं जो भगवान्‌से मिलनेके लिये हिलते हैं, आतुर हो उठते हैं, नहीं तो जड हैं, पत्थर हैं, उन पत्थरोंमें रखा क्या है। इस प्रकार वे गयीं और पहुँच गयीं। '**यत्र सः कान्तः**' जहाँपर उनके कान्त, स्वामी, अपने प्रियतम थे।

'प्रियतम' एक भगवान् ही हैं भला। संसारमें कोई भी प्रियतम—कान्त नहीं है। हमलोगोंने न मालूम किस-किसको कान्त बना रखा है। स्त्रियोंके ही 'कान्त' नहीं होते हैं, पुरुषोंके भी होते हैं। हम सब लोगोंके न मालूम कितने 'कान्त' हैं? पता नहीं है। किंतु वे तो असली 'कान्त' के पास जा पहुँचीं। प्रश्न हुआ—वे एक-एक गयीं या साथ गयीं। घरके काम-काजको सँभालके, सहेजके गयी होंगी न? और भाग गयीं? तो कैसे भाग गयीं; क्योंकि कृष्णगृहीतमानसा थीं—मुरलीकी ध्वनि सुनते ही दौड़ पड़ीं। दौड़ क्यों पड़ीं? क्योंकि समुत्सुका भी थीं—श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये परम उत्सुक—परम आतुर थीं। और यही प्रेमी साधकका रूप होता है। ये विशेषण '**कृष्णगृहीतमानसाः**' एवं '**समुत्सुकाः**' बताते हैं उनकी स्थितिको। वे इतनी उत्सुका थीं भगवान्‌से मिलनेके लिये कि जहाँ मिलनेकी बात किसी भी रूपमें

तो सभ्यता भी होती है कि परोसनातकके कामको तो पूरा करके जातीं। किंतु उसको भी छोड़कर दौड़ चलीं; क्योंकि कृष्णगृहीतमानसा—समुत्सुका थीं वे। फिर प्रश्न होता है कि खैर, यह तो कोई बात नहीं। बच्चे तो बड़े प्यारे होते हैं। तो कोई बच्चोंको दूध भी पिला रही होंगी। किंतु (**शिशून् पयः पाययन्त्यः**) शिशुओंको दूध पिलाते हुए भी छोड़कर भाग गयीं, शिशु रोते ही रह गये। (**काः चित् पतीन्**) कुछ पतिव्रताएँ अपने पतियोंकी सेवा कर रही थीं। वे भी दौड़ पड़ीं। इसका उलटा अर्थ कोई ले लेगा तो भूल ही करेगा; क्योंकि यहाँ लौकिक जगत् नहीं है। यह तो परम पवित्र साधना, परम पावन उस उच्च साधनाकी वस्तु है, जहाँपर जगत् नहीं रहता। इतना ही नहीं, कुछ गोपियाँ खा रही थीं। आदमी खाता है तो सोचता है खाकर ही चलें। किंतु (**भोजनम् अपास्य**) भोजन करते हुए बीचमें ही दौड़ पड़ीं। थाली पड़ी रही। (**अन्याः लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्यः**) कुछ जो अंगराग लगा रही थीं, कुछ उबटन लगाकर नहा रही थीं, उबटन लगाकर नहाना था, उबटन लगा ही रह गया। उबटन कहीं लगा, कहीं लगा ही नहीं—ऐसे ही लगा रह गया। कुछ काजल डाल रही थीं नेत्रोंमें (**लोचने अञ्जन्त्यः**) एक आँखमें काजल पड़ा और दूसरेमें रह गया, ऐसे ही छूट गया। (**काः चित् व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः**) पहन रही थी चोली और सोचा कि ओढ़नी है, उसे सिरपर डाल लिया। उलटे कपड़े पहन लिये। हाथका गहना पैरमें पहन लिया। कानका गहना उँगलीमें डाल लिया। पता ही नहीं, गहना है कि क्या है। (**व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः कृष्णान्तिकम् ययुः**) उलटे-सीधे गहने-कपड़े पहननेसे विचित्र शृंगार हो गया। चली गयी श्रीकृष्णके समीप। जहाँतक शृंगार दीखता है, वहींतक शृंगारका दासत्व है। किंतु वहाँ तो जब भगवान्‌का आह्वान होता है तो यहाँके शृंगारका कोई मूल्य नहीं रहता। यहाँका सारा शृंगार बिगड़कर वहाँका शृंगार होता है।

इनके लिये एक शब्द और आया है '**गोविन्दापहृतात्मानः**'— गोविन्दने इनके अन्तःकरणका अपहरण कर लिया था। यह हमलोगों-का परम सौभाग्य हो कि हमारे भी मनको भगवान् हरण कर लें, चुरा लें। किंतु वे क्यों चुरा लें? यहाँ एक बात समझनेकी है कि हम यह कामना करें, मिथ्या ही करें, चाहें कि हमारे 'मनको गोविन्द हरण कर ले जायँ।' गोविन्द तो लेनेके लिये तैयार हैं। किंतु कब ले जायँगे? जब हम अपने मनको उनके लिये खाली रखेंगे तब। जब भरा हुआ बोझा है, कौन उठाकर ले जाय इसको। मनको हरकर भी ले जायँगे, चोरी करके भी ले जायँगे। पर पहले हम अपने मनको जगत्से खाली करें। इसमें जो कूड़ा-करकट भर रखा है उसको निकाल दें, तब गोविन्द अवश्य इसको हरकर ले जायँगे। गोपियोंने सब कुछ निकाल दिया था अपना, अपने मनसे। इसलिये उनके मनको भगवान् हरण करके ले गये।

इस रासपंचाध्यायीमें इसी परम त्यागकी, सबसे ऊँची समर्पणकी लीलाका वर्णन है। उनमें आपसमें कोई भेद है ही नहीं। लोगोंको दिखानेके लिये वे दो बने हैं। श्रीकृष्ण स्वयं ही दो बने हुए हैं। पर इसमें यह दिखाया गया है कि कितना ऊँचे-से-ऊँचा त्याग होना चाहिये—भगवान्‌की ओर जाना चाहता है उस साधकमें। इसमें उलटी बात है। लोग देखते हैं, इसमें भोग-ही-भोग है, पर वस्तुतः है इसमें केवल त्याग-ही-त्याग। कहीं भोग है ही नहीं इसमें। इसी त्यागसे आरम्भ होता है यह और त्यागमें ही इसका पर्यवसान है। उनका सब कुछ त्याग होकर श्रीकृष्णमें विलीन हो गया। उनका जीवन, उनकी क्रिया, उनके सारे काम, उनकी कुल चेष्टाएँ श्रीकृष्ण-सुखमें विलीन हो गयीं। इस प्रकारका त्यागमय जीवन है श्रीगोपीजनोंका।

हम सब भी गोपी बन सकते हैं। यदि किसीको गोपी बनना हो तो तीन बात करनी है उसको (१) अपने मनसे जगत्‌को निकाल देना। (२) भगवान्‌को देनेके लिये मनको तैयार कर देना। उनसे कहना

है कि ले जाओ इस मनको नाथ! और (३) किसी भी कारणसे, किसी भी हेतुको लेकर, कहींपर भी अटकनेकी भावना न रहे। कहीं भी अटके नहीं। भगवान्‌को मन देनेके लिये तैयार कर ले और मनको जगत्‌से खाली कर ले।

जहाँतक हमारे मनमें विषय भरे हैं और विषयोंको मनसे निकालकर भी जहाँतक हम ज्ञान-विज्ञानकी ओर जाते हैं तो हम अपना मन भगवान्‌को सौंपना नहीं चाहते। ऐसी स्थितिमें भगवान् लेते भी नहीं हमारे मनको। मन अमन होता है। मन मिट जाता है, मर जाता है पर भगवान्‌का नहीं होता; और तीसरी बात है, जो सबके लिये आवश्यक है, मनका कहीं न अटकना, यह अटकना गोपीमें नहीं है। गोपियाँ कहीं अटकीं नहीं। न गहनेने अटकाया, न कपड़ेने अटकाया, न भोजनने अटकाया, न घरवालोंने अटकाया, न मान-प्रतिष्ठाने अटकाया। एकको उसके पतिने अटकाया। वह पहले ही पहुँच गयी। आगे बात आती है।

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावना युक्तादध्युर्मीलितलोचनाः॥

एक गोपीको उसके पतिने रोका, पर वह पहले पहुँच गयी। प्राणोंको देकर पहुँच गयी।

अतएव आजकी जो शरत्पूर्णिमाकी रात्रि है, ऊँची बातोंको छोड़ भी दें तो इतनी बात तो समझनी ही है कि यह रात्रि साधनाके लिये बड़े ऊँचे आदर्शको बतलानेवाली रात्रि है। इस दिन साधनाकी परिपूर्णताका जो परम फल होता है, वह प्राप्त किया श्रीगोपांगनाओंने। कैसे किया? बड़ी विलक्षण बात है। इसमें श्रीकृष्णसे लाभ उठानेके लिये गोपिकाएँ नहीं दौड़ पड़ी थीं। उन्होंने अपने हृदयमें विशुद्ध प्रेमामृत भर रखा था। उस प्रेमामृतकी आकांक्षा भगवान्‌को हो गयी। उस निष्काममें, परम अकाममें, पूर्णकाममें उस पवित्र मधुर प्रेम-रसास्वादनकी इच्छा उत्पन्न हो गयी। अतएव वे भगवान्‌को सुख देने गयीं, सुख लेने नहीं। यही सार है

गोपीप्रेमका। जहाँतक हम भगवान्‌के द्वारा सुख चाहते हैं, वहाँतक हम भगवान्‌के भक्त नहीं हैं। हम भोगोंके दास हैं, सुखके दास हैं। एक प्रेमी ही जगत्‌में ऐसा है जो भगवान्‌को सुख देना चाहता है, और कोई है ही नहीं। बड़े-बड़े भक्त भी भगवान्‌से सुख चाहते हैं। वे भी कहते हैं—'प्रभु! समीप ही रहें। आपके अथवा आपके लोकको ही प्राप्त कर लें। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य ही प्राप्त कर लें। दर्शन देते रहो—हमको।' पर ये प्रेमी भक्त तो कहते हैं कि दर्शन न देनेसे यदि तुमको सुख होता हो, तो दर्शन भी मत दो। कभी मत दो, नहीं चाहिये। भोगकी तो बात ही नहीं। तुम्हारा दर्शन भी यदि तुम्हें सुखकर न हो तो हमें नहीं चाहिये। 'हमें चाहिये केवल तुम्हारा सुख।' इस प्रकार भगवान्‌को सुख देनेवाले एकमात्र प्रेमी भक्त ही होते हैं। जिज्ञासु साधक भी मुमुक्षा— मोक्ष चाहता है। कहता है—'महाराज ! हमको मोक्ष दे दो। छुटकारा मिल जाय बन्धनसे।' सकामीकी तो बात ही नहीं होती यहाँ। भोगोंको चाहनेवाले हमलोग तो नरकके कीड़े हैं, उनकी तो बात ही नहीं है।

प्रेमी भक्त भगवान्‌को देते हैं। कुछ लेनेकी, कुछ माँगनेकी तो कल्पना ही नहीं। गोपियाँ गयीं वहाँपर भगवान्‌को देनेके लिये; क्योंकि भगवान्‌को कुछ देकर उन्हें सुख मिलेगा। जब भगवान्‌को कुछ दिया, भगवान्‌को सुखी देखा तो अपनेको परम सुखी अनुभव किया और इसी प्रकार इनको परम सुखी देखकर भगवान्‌को भी परम सुख होता है। एक-दूसरेको सुखी बनाकर सुखी होना, इसीका नाम 'रास' है। यह रास नित्य चलता है। यह रासपूर्णिमा त्यागकी पराकाष्ठाका रूप बतानेवाली है। प्रेमके साध्यका रूप बतानेवाली है। हम तो साधक भी नहीं बन सके अभीतक । बल्कि बाधक हैं; क्योंकि भोगोंमें रहनेवाला तो अपने श्रेयमें बाधा ही देता है।

अपने सारे भोगोंसे हटाकर, सारे भोगोंका परित्याग करके भगवान्‌के पवित्र आह्वानपर गोपियाँ अपने-आपको ले गयीं वहाँ और भगवान्‌के

श्रीचरणारविन्दमें पहुँचकर उन्होंने भगवान्‌को सुखदान दिया। यही रासका रूप है। यों तो रासकी बड़ी-बड़ी बहुत बड़ी-बड़ी ऐसी-ऐसी बातें हैं जो कभी चुकतीं ही नहीं और उनमें भी आजका तो ऐसा भाव है, जिसके लिये केवल यही कहा जा सकता है कि यह एक बहुत ऊँचा भाव है। इसके अन्तर्गत भी बहुत ऊँचे-ऊँचे दूसरे भाव भी हैं। जिन भावोंको कहनेके लिये न तो अवकाश है और न हम जानते ही हैं। इसलिये इतनी-सी बात जो अपने लिये आवश्यक है कि भगवान्‌के लिये त्याग करें—संसारकी आसक्ति, ममताका त्याग करें। सारी आसक्ति, सारी ममता एकमात्र भगवान्‌में प्रतिष्ठित हो जाय। इतना ही हम गोपीभावसे सीख लें। इतना ही यदि हम राससे ले लें, तो हमारा जीवन कृतकृत्य हो जाय। रास-मण्डलमें तो कभी भगवान् ले जायँगे, कहीं उनकी इच्छा होगी, श्रीराधारानीकी कृपा होगी, वे किसी मंजरीको नियुक्त कर देंगी तो वे स्वयमेव ले जायँगी। अपने पुरुषार्थसे हम नहीं जा सकते; क्योंकि हमारा पुरुषार्थ जहाँ समाप्त हो जाता है, वहींसे प्रेमका पाठ प्रारम्भ होता है। जहाँ चारों पुरुषार्थोंकी सीमा इस ओर ही रह जाती है, वहाँसे प्रेमकी सीमा प्रारम्भ होती है। यही गोपी-प्रेम है—और रास तो उसका एक प्रत्यक्ष पूर्णस्वरूप है। पूर्णतम प्रेम तो कहा ही नहीं जा सकता। प्रेम पूर्ण होता ही नहीं है। इस राज्यमें तो सारा-का-सारा अपूर्ण ही रहता है। जितना भी मिला, उतना ही थोड़ा होता है। इसमें प्रवेश करनेवालोंके लिये श्रीगोपीजनोंका आचरण परम आदर्श वस्तु है। सारे जगत्‌को भूलकर, सारे जगत्‌को त्यागकर, केवल श्रीकृष्णगृहीतमानसा होकर वे अपनेको श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित कर देती हैं, श्रीकृष्णको सुखी बनानेके लिये और यह विलक्षण भाव ही गोपीभाव है।

भक्तका एकांगी प्रेम

भगवान्‌के सच्चे भक्त भगवान्‌से लौकिक या पारलौकिक सुख नहीं चाहते। वे तो चातककी भाँति केवल प्रेम ही करते हैं और उन्हें किसी भी अवस्थामें, कैसी भी बुरी स्थितिमें अपने प्रियतम भगवान्‌से किसी प्रकारकी शिकायत नहीं होती। उनमें भगवान्‌के प्रति एकांगी प्रेम होता है। वे सुख-दुःख सभीमें भगवान्‌के कोमल करकमलका संस्पर्श पाते हैं और इसीमें परम प्रसन्न रहते हैं। न उन्हें शिकायत है, न कामना है, न रंज है, न दुःख है। वे मस्त हैं और इसीमें सुख तथा गौरवकी अनुभूति करते हैं। भगवान्‌के एक भक्तने अपनेको भगवान्‌के द्वारा परित्यक्ता सती पत्नीके रूपमें देखकर कहा है—

सच्ची सुहागिन, मैं सुहागिन, हूँ मेरे भर्तारकी।
भूखी हूँ मैं अपनत्वकी, भूखी नहीं सत्कारकी॥
मुझको वे अपनी मानते हैं, याद रखते नित मुझे।
इसीसे डरते नहीं हैं, दुख देनेमें मुझे॥
हैं सताते वे मेरे प्यारे मुझे दिल खोलकर।
हूँ सदा उनकी, हिचकते हैं नहीं यह बोलकर॥
दुख देनेमें मुझे यदि उनको मिलता तनिक सुख।
यही तो सौभाग्य मेरा, यही मेरा परम सुख॥
चाहती हूँ मैं नहीं उनसे निजेन्द्रिय-सुख कभी।
इसीसे सुखदायिनी हैं हरकतें उनकी सभी॥
उनकी अपनी चीजपर उनका सदा अधिकार है।
मारें, ठुकरायें, सतायें, चूँकि वे भर्तार हैं॥

अपने मनसे बर्तते, कर भोगसे वंचित मुझे।
यही तो आत्मीयता है, इसीका गौरव मुझे॥*

उसके मनमें इसीका परम संतोष होता है कि मेरे प्रियतम भगवान् मुझे स्मरण तो करते हैं, कैसे ही करें। वह किसी समय किसी प्रकार भी प्रत्याशा नहीं करता, अपने ही भावमें मस्त रहता है। प्रियतम भगवान्‌का दोष तो उसके चित्तमें कभी आता ही नहीं—

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि कीं ताते नाप न जोख॥

पर ऐसा भक्त क्या दुःखी रहता है? वह तो अपने प्रियतम भगवान्‌के हृदयका अधिकारी होता है। भगवान् उसे लोभीके धनकी भाँति सदा अपने हृदयमें ही बसाते हैं।

---

* इस प्रसंगको पढ़कर संसारमें कोई पति यह न समझें कि मैं इस प्रकार अपनी पत्नीको सतानेका अधिकारी हूँ, यों समझनेवाला भ्रममें रहेगा और पापके गड्ढेमें ही गिरेगा।

श्रीकृष्ण-महिमाका स्मरण

श्रीश्रीकृष्णो जयति जगतां जन्मदाता च पाता
हर्ता चान्ते हरति भजतां यश्च संसारभीतिम्।
राधानाथः सजलजलदश्यामलः पीतवासा
वृन्दारण्ये विहरति सदा सच्चिदानन्दरूपः॥
ज्योतीरूपं परमपुरुषं निर्गुणं नित्यमेकं
नित्यानन्दं निखिलजगतामीश्वरं विश्वबीजम्।
गोलोकेशं द्विभुजमुरलीधारिणं राधिकेशं
वन्दे वृन्दारकहरिहरब्रह्मवन्द्याङ्घ्रिपादम्॥
नमो विश्वस्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे।
विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः॥
बर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे।
राधामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः॥

आज पवित्रतम श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी-महोत्सव है। भाद्रपदके अँधियारे कृष्णपक्षके मध्यकी अँधेरी अष्टमीको, अँधेरी मध्यरात्रिके घोर तमोऽभिभूत कालमें, तमोमय काले कर्म करनेवाले क्रूरहृदय कंसके अन्धकारपूर्ण कारागारमें अद्वितीय परमोज्ज्वलतम परमेश्वर श्रीकृष्णका कृष्णरूपमें आविर्भाव हुआ था। उनके प्रकट होनेके साथ ही कारागारकी उस अन्धकारमयी कालकोठरीमें दिव्य प्रकाश छा गया था। साथ ही विश्वके समस्त सत्पुरुषोंके हृदय, जो तमोमयी निराशासे आच्छादित थे, अकस्मात् अलौकिक प्रकाशसे सुदीप्त हो उठे तथा तमाम प्रकृतिमें उल्लासकी उज्ज्वल तरंगें नाचने लगीं थीं। वसुदेव-देवकी, जो मन, प्राण, बुद्धि, आत्माकी सारी स्थूल-सूक्ष्म शक्तियोंसे शून्य-से होकर क्रूर कंसके कारागारमें सर्वथा परतन्त्र, सब ओरसे निराश, विषण्णहृदय हो शृंखलाबद्ध पड़े थे और सब प्रकारसे परित्राण करनेवाली एकमात्र

दिव्य परम प्रकाशस्वरूपा महान् शक्तिको अन्तस्तलकी करुण ध्वनिसे पुकार रहे थे एवं उसकी एकान्त आकुल प्रतीक्षा कर रहे थे, आज इस चिरभिलषित अद्भुत प्रकाशके परमोदयसे परमाह्लादित हो गये। वास्तवमें जब व्यष्टि या समष्टि मानव इस प्रकार शक्तिशून्य हो, सब ओरसे सर्वथा निराश होकर अनन्यभावसे उस एकमात्र त्राणकर्ता परमाश्रयको पुकारता है, तभी वे सहज-सुहृद् सर्वशक्तिमान् सर्वलोकमहेश्वर भगवान् स्वयं प्रकट होकर उसका परित्राण करते हैं। उस समय असुरभाराक्रान्त धरादेवीके सभी साधु पुरुष पीड़ित थे, इसीसे सर्वत्राणकारी भगवान्का दिव्य प्राकट्य हुआ था।

'यह दिव्य प्राकट्य क्यों होता है?'

'साधुओंके परित्राण, दुष्कृतोंके विनाश तथा धर्मकी भलीभाँति स्थापनाके लिये'—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय .... ॥

'कब होता है?'

'जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है'—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः,
अधर्मस्य अभ्युत्थानं भवति।

'प्राकट्य किनका होता है?'

'जो अजन्मा हैं, अविनाशी हैं तथा चराचर प्राणियोंके ईश्वर हैं, उनका'—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

'वे कैसे प्रकट होते हैं?'

'अपनी प्रकृति—निज स्वभावको अपने अधीन करके **'स्वां**

प्रकृतिमधिष्ठाय'। वे भगवान् स्वरूपभूता मायासे—'**आत्ममायया**' अपनी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र इच्छासे प्रकट होते हैं।'—

उनका यह प्राकट्य 'प्रकृतिस्थ' जीवोंकी भाँति कर्मपरवश नहीं होता, न उनका कोई कर्म ही किसी प्राकृतिक संस्कार विशेषकी प्रेरणासे होता है। उनका जन्म (प्राकट्य) और उनके सभी कर्म दिव्य भगवत्स्वरूप ही होते हैं। यहाँतक कि उनके इन 'दिव्य' जन्म-कर्मोंके रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाले मनुष्यका जन्म होना बंद हो जाता है। वह शरीर त्यागकर पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता, भगवान्‌को ही प्राप्त होता है। इसकी घोषणा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने इन दिव्य शब्दोंमें की है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'जिनका परित्राण किया जाता है, वे साधु कौन हैं?'

(क) वर्णाश्रमधर्म तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सामान्य मानवधर्मोंका पालन करनेवाले, संयम-सदाचार-परायण, सर्वभूतहितमें रत, वैराग्य-ज्ञानयुक्त दैवी सम्पत्तिवान् पुरुष।

(ख) भगवान्‌के प्रत्यक्ष मंगल-दर्शनके लिये व्यथित, तपश्चर्या करनेवाले तथा भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला आदिके श्रवण-कीर्तन-स्मरणमें लगे हुए भगवद्भक्त।

(ग) प्रेम-लीलामय परम प्रेमास्पद भगवान्‌के पवित्र प्रेम-लीलारस-आस्वादनके लिये परमोत्सुक भुक्ति-मुक्ति-त्यागी परम प्रेमीजन।

'दुष्कृत कौन है?'

(क) साधुपुरुषोंपर अत्याचार करनेवाले, हिंसा, असत्य, चोरी, छल, व्यभिचार आदि दुर्विचार तथा दुष्कर्मोंमें लगे हुए, शास्त्रविरुद्ध अन्यायाचरण करनेवाले, निषिद्ध भोगोंमें आसक्त आसुरी सम्पत्तिवान् उच्छृंखल मनुष्य।

(ख) भगवान्‌का विरोध तथा खण्डन करनेवाले असदाचारी, यथेच्छाचारी, नास्तिक व्यक्ति।

(ग) विशुद्ध प्रेमके बाधक उच्च-नीच भोग-कामनाओंके भाव तथा उनके अधिष्ठाता पुरुषविशेष।

ऋषिस्वभावसम्पन्न, सत्त्वगुण-विशिष्ट, सदाचारी सत्पुरुषोंका तथा उनके पवित्र कार्योंका अत्यन्त ह्रास हो जाना 'धर्मकी ग्लानि' है और दुष्कृतों—दुराचारी लोगोंके द्वारा दुराचार, अनाचार, अत्याचार, असदाचार,भ्रष्टाचार और व्यभिचार आदिका बढ़ जाना ही, 'अधर्मका अभ्युत्थान' है।

इसी अधर्मके नाश, साधुपरित्राण, दुष्कृतविनाश और धर्म-संस्थापनके लिये भगवान्‌का प्राकट्य होता है। परंतु साधारणतया सामान्य अधर्मनाश, धर्मसंस्थापन और साधुत्राण तथा दुष्कृतविनाशके लिये प्राय: भगवान्‌का अवतार नहीं होता। ये कार्य तो निरन्तर भगवान्‌की सृष्टि, पालन, संहार करनेवाली शक्तिके द्वारा होते ही रहते हैं। भगवान्‌का अवतार तो विशेष स्थितिमें होता है। ऐसे साधुओंके लिये, जिनका भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हुए बिना अदर्शनजनित भयानक दुःख दूर नहीं हो सकता और ऐसे असुर-राक्षसोंके लिये, जिनका भगवान्‌के अपने हाथ मारा जाना सुनिश्चित या अनिवार्य होता है, भगवान्‌को अवतार ग्रहण करना पड़ता है। यों भगवान्‌के दर्शनकी प्रबल इच्छाजनित दुःखसे दुःखी भक्तोंको दर्शन देकर उनका परित्राण करना और हिरण्यकशिपु, रावण आदि शाप या वरदानप्राप्त दुष्कृतोंका अपने हाथों वध करना—भगवान्‌के अवतारद्वारा ही सिद्ध हो सकता है। पर इन कार्योंके लिये भी भगवान्‌के पूर्णावतार या स्वयं भगवान्‌के प्रकट होनेकी आवश्यकता नहीं होती। स्वयं भगवान्‌का प्राकट्य तो होता है भुक्ति-मुक्तित्यागी, अनन्य उत्कण्ठारूप विरहतापसे परम संतप्त प्रेमी भक्तोंको दर्शन देकर तथा परम मधुर दिव्य लीला-प्रमोद-रसका आस्वादन करवाकर उनका उस दुःखसे परित्राण

करनेके तथा लौकिक भोग-काम-धर्मके स्थानपर पवित्र प्रेमधर्मकी संस्थापनाके लिये; विशिष्ट असुरवध, विशिष्ट साधु-परित्राण तथा साधारण धर्मसंस्थापनके लिये नहीं।

'स्वयं भगवान्' के प्राकट्यकालमें भगवान्के अंश-कला आदि अवतारोंका उन्हींमें समावेश रहता है, अतएव वे सब अपने विभिन्न ऐश्वर्यप्रधान लीला-कार्य भगवान् श्रीकृष्णस्वरूपसे ही करते रहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—'**एते चांशकलाः प्रोक्ताः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।**' अतएव उनके द्वारा सभी अवतारोंके लीला-कार्य सहजरूपमें हो सकते हैं। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' के अनुसार तो भगवान् श्रीकृष्णके गोलोकसे भूमिपर अवतरण करनेके समय भगवान् महाविष्णु, विष्णु, नारायण, ऋषि आदि सभी आकर उन राधिकेश्वर-विग्रहमें विलीन हो जाते हैं और यहाँ उन्हींके द्वारा अपना लीला-कार्य करते हैं। वैसे तो 'अंशी' भगवान् श्रीकृष्णमें सभी 'अंशों' का सदा-सर्वदा ही समावेश रहता है। इस जगत्में जब स्वयं अंशी 'स्वयंरूप' श्रीकृष्णका प्राकट्य होता है, तब उन-उन अंश-कलारूप अवतारोंके कार्योंकी उनमें अभिव्यक्ति होती है और जब विभिन्न कालमें विभिन्न लीला-कार्यके लिये उन-उन अंश-कला-अवतारोंका प्राकट्य होता है, तब वे स्वतन्त्ररूपसे अपना-अपना लीला-कार्य सम्पन्न करते हैं। स्वरूपतः सभी अवतार नित्य शाश्वत, हानोपादानरहित और प्रकृतिसे पर एक ही परमात्म-स्वरूप हैं। भगवान्के किसी अवतार-स्वरूपमें भगवत्ताकी या भागवतीशक्तिकी न्यूनता नहीं है। भगवान् सदा, सर्वत्र, सर्वथा परिपूर्ण हैं। अवतारोंमें शक्तिकी न्यूनाधिक अभिव्यक्ति ही 'अंशी' और 'अंश' भावमें कारण है। सभी अवतारोंमें पूर्ण शक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती। जिस अवतार-लीलामें जितनी शक्तिका प्रकाश प्रयोजनीय होता है, उतना ही प्रकाश होता है। जैसे अग्निमें समस्त वस्तुओंके दाहकी शक्ति है, पर जहाँ उसके सामने छोटा-सा

काष्ठखण्ड होता है, वहाँ वह उसीको जलाती है; इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अग्निकी शक्ति उतने ही काष्ठको जलानेमें सीमित है। इसी प्रकार भगवान्‌के अवतारोंको देखना चाहिये।

लीलाभेदसे भगवान्‌के अवतार तीन प्रकारके होते हैं—

(१) पुरुषावतार, (२) गुणावतार और (३) लीलावतार।

(१) पुरुषावतारके तीन भेद हैं—

(क) प्रकृतिका ईक्षण करनेवाले कारणार्णवशायी महाविष्णु। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥

(१। ३। १)

'भगवान्‌ने आदिमें लोकसृष्टिके निर्माणकी इच्छा की और उन्होंने महत्तत्त्व आदिसे निष्पन्न 'पुरुष' रूप ग्रहण किया। उसमें दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच भूत—ये सोलह कलाएँ थीं।' भगवान्‌का चतुर्व्यूह है—श्रीवासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। उपर्युक्त श्लोकमें 'भगवान्' शब्द 'श्रीवासुदेव' के लिये प्रयुक्त है और आदिदेव नारायण भी यही हैं।

आद्य पुरुषावतार उपर्युक्त चतुर्व्यूहमें 'श्रीसंकर्षण' हैं। 'कारणार्णवशायी' तथा 'महाविष्णु' इन्हींके नामान्तर हैं। यही '**सहस्रशीर्षा पुरुषः**' रूपमें पुरुषसूक्तमें वर्णित हैं। आद्य पुरुषावतार भगवान् ब्रह्माण्डमें अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश करते हैं। (ख) द्वितीय पुरुषावतार चतुर्व्यूहमें 'श्रीप्रद्युम्न' हैं। यही गर्भोदशायी हैं। इन्हींके नाभिकमलमें हिरण्यगर्भ ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव होता है। (ग) तृतीय पुरुषावतार 'श्रीअनिरुद्ध' हैं, जो प्रादेशमात्र विग्रहसे व्यष्टि जीवमात्रके अन्तर्यामी हैं।

(२) गुणावतार भी तीन हैं—(क) विश्वके सृष्टिकर्ता श्रीब्रह्मा, (ख) विश्वके पालनकर्ता क्षीरोदशायी श्रीविष्णु और (ग) विश्वके संहारकर्ता श्रीमहेश्वर। इनका आविर्भाव गर्भोदशायी द्वितीय

पुरुषावतार श्रीप्रद्युम्नसे है। एक ही गर्भोदशायी परमात्मा विश्वकी स्थिति, पालन और संहारके लिये (सत्त्व, रज, तम) तीन गुणोंसे युक्त हैं; परंतु पृथक्-पृथक् अधिष्ठाताके रूपमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर संज्ञाको धारण करते हैं।

(३) लीलावतार—'जिस कार्यमें किसी भी प्रकारका आयास-प्रयास न हो, जो सब प्रकार अपनी स्वतन्त्र इच्छाके अधीन हो और अनन्त प्रकारकी विचित्रताओंसे परिपूर्ण नित्य-नवविलास और उल्लास-तरंगोंसे युक्त हो, उस कार्यको 'लीला' कहते हैं।' इस प्रकारकी लीलाके लिये भगवान्‌के जो अवतार होते हैं, उन्हें 'लीलावतार' कहा जाता है। ऐसे लीलावतार २५ हैं। इन्हें 'कल्पावतार' भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त चौदह 'मन्वन्तरावतार' और चार 'यज्ञावतार' हैं। यों कुल मिलाकर ४३ हैं। भगवान्‌के उपर्युक्त सभी अवतार (१) '**आवेश**', (२) '**प्राभव**', (३) '**वैभव**' और (४) '**परावस्थ**' रूपसे विभक्त हैं।

'परावस्थ' अवतारोंकी अपेक्षा 'वैभवावतारों' में शक्तिकी अभिव्यक्ति कम होती है और 'प्राभव' अवतारोंमें 'वैभवावतारों' की अपेक्षा न्यूनता होती है। 'प्राभव' अवतारोंके दो भेद हैं तथा वैभवावतार २१ माने गये हैं।

सर्वोपरि 'परावस्थ' अवतार तीन हैं—श्रीनृसिंह, श्रीराम और श्रीकृष्ण। ये षड्गुणपरिपूर्ण हैं—

'नृसिंहरामकृष्णेषु षाड्गुण्यं परिपूरितम्।'

और समान 'परावस्थ' के हैं। यही तीनों मुख्य अवतार हैं। अतएव इनमें न्यूनाधिक तारतम्यकी कल्पना करना एक प्रकारसे बड़ा अपराध है। वास्तवमें लीलावतारोंका तत्त्व, महत्त्व तथा रहस्य अप्रमेय और अचिन्त्य हैं। लीलाकी अभिव्यक्तिके भेदसे इनके मंगलमय भेदकी लीला गायी जाती है। भगवान् श्रीनृसिंहमें अधिकांशमें केवल 'ऐश्वर्य' का प्रकाश है, भगवान् श्रीरामचन्द्रमें माधुर्यके साथ ऐश्वर्यका 'विशेष'

प्रकाश है और भगवान् श्रीकृष्णमें ऐश्वर्य और माधुर्य—दोनों ही परिपूर्णतमरूपमें प्रकाशित हैं। स्वयंरूप भगवान् होनेसे श्रीकृष्ण 'अवतारी' और 'अवतार' दोनों हैं। ये ही 'सर्वाश्रय-आश्रय' हैं। ये साक्षात् परब्रह्म, परात्पर, पुरुषोत्तम, सर्वकर्ता, अप्रमेय, आनन्दस्वरूप, अप्राकृत दिव्य-शरीरी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वातीत, अनन्त कल्याण-गुणगणस्वरूप, नित्य निर्गुण, अंश-कलापूर्ण, परिपूर्णतम-स्वरूप, सर्वोद्धार-प्रयतात्मा, दोष-कल्पनाशून्य तथा सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। साथ ही ये दीनबन्धु, विशुद्ध, सत्त्व, पुण्यमय, प्रेममय, दयामय, आप्तकाम, कर्मयोगी, असुरहन्ता, धर्मात्मा, वेदज्ञ, नीतिज्ञ, लोकहितैषी, न्यायशील, क्षमाशील, निरपेक्ष, मित्रमित्र, सुहृद्, ब्रह्मण्य, वदान्य, उदार, शास्ता, अत्याचारनाशक, अहंता-ममतारहित, तपस्वी, शरणागतवत्सल एवं शक्तिमान् हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी एक विलक्षण विशेषता यह है कि ये आदर्श मानव भी हैं। प्राकट्यके समयसे ही इनकी परमाश्चर्यमयी भगवत्ताका प्रकाश हो गया था। उस समयके व्यास-नारद-सरीखे महर्षि, देवर्षि, मुनि मार्कण्डेय-कश्यप-परशुरामसदृश ऋषि-मुनि-प्रतापी, भीष्मपितामह-जैसे अलौकिक ब्रह्मक्षत्र-शक्तिसम्पन्न ज्ञानी तथा धर्मज्ञ, विदुर-जैसे साधुस्वभाव नीतिज्ञ, युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा, अर्जुन-सहदेव-जैसे विवेकी शूरवीर, कुन्ती-गान्धारी तथा द्रौपदी-जैसी सन्नारियाँ—सभी भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् परमात्मा परमेश्वर परब्रह्म भगवान् मानते थे और उनके श्रीचरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेमें गौरव, पुण्य तथा सौभाग्यका अनुभव करते थे। महाभारत और श्रीमद्भागवतमें ऐसे असंख्य प्रसंग हैं। यहाँ कुछ चुने हुए प्रसंगोंके वाक्य दिये जाते हैं—

श्रीभीष्मपितामह—

(१)

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेव, भरद्वाज, सुमन्तु, गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल, पराशर, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, परशुराम,

शुक्राचार्य, आसुरि, वीतिहोत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन, अकृतव्रण आदि ऋषियों, वेदवादी विद्वान् ब्राह्मणों, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्मपितामह, धृतराष्ट्र, विदुर, वसुदेव, द्रुपद, अश्वत्थामा, द्रुम, भीष्मक, शल्य तथा कर्ण आदि वयोवृद्धों तथा शूरवीरोंकी उपस्थितिमें पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजासे असंतुष्ट तथा क्षुब्ध शिशुपालके आक्षेपोंका उत्तर देते हुए पितामह कहते हैं—

न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः॥

(महाभारत, सभापर्व ३८। ९)

'महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे लिये ही परम पूजनीय हों, ऐसी बात नहीं है; ये तो तीनों लोकोंके पूजनीय हैं।'

न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम्।
न सम्बन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन।
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम्॥

गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः।
ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः॥

वैश्यानां धान्यधनवाञ्छूद्राणामेव जन्मतः।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ॥

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा।
संनतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते॥

ऋत्विग् गुरुस्तथाऽऽचार्यः स्नातको नृपतिः प्रियः।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥

(१४-१५;१७-१८;२०,२२)

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥

आयी, इनको और कुछ सूझा ही नहीं। आगे बताते हैं—(**काश्चिद् दुहन्त्यः .....दोहं हित्वा**) कुछ गोपियाँ गाय दुह रही थीं, गायका थन हाथमें है, नीचे बरतन रखा है। मुरलीकी ध्वनि कानमें आयी, वैसे ही दुहना छोड़कर दौड़ीं। किधर दौड़ीं—जिधरसे वह वेणुनाद आ रहा था। (**अभिययुः**) उस वेणुनादकी ओर लक्ष्य करके, वे भागीं। यह तो हुई दुहनेवालियोंकी दशा। और कुछ गोपियोंने दूधको चूल्हेपर रख दिया था औटानेके लिये। जहाँ आह्वान आया, अब औटावे कौन? जैसे दूध दुहते भागीं, वैसे ही कुछ दूध चूल्हेपर ही छोड़कर दौड़ीं। चाहे उफन जाय, जल जाय!

जबतक जगत्‌की स्मृति रहती है, तबतक हम भगवान्‌का आह्वान नहीं सुनते। भगवान्‌का आह्वान सुनते ही जगत्‌की स्मृति वे भूल गयीं। साधनाका एक ऊँचा स्तर है यह। जगत्‌को याद रखते हुए हम जो भगवान्‌की ओर जाते हैं, यह भगवान्‌की ओर नहीं जाते, जगत्‌में ही रमते हैं। जगत्‌की स्मृति मनमें रहती है। किंतु गोपियोंको तो जहाँ भगवान्‌का आह्वान कानोंमें सुनायी दिया, वे जगत्‌को सर्वथा भूल गयीं। दूध दुहना भूल गयीं और दूधको चूल्हेपर भूल गयीं। भागवतकार आगे कहते हैं, एक तो हलवा बना रही थी (**संयावम्**)। हलवा बना रही थी तो हलवा उतार देती। किंतु उतार देती कौन? होश रहता तब न। (**अनुद्वास्य अपराः ययुः**) बिना उतारे ही भाग गयी। हलवा जल जायगा इतना सोचनेका अवकाश कहाँ? यही विरही साधककी स्थिति होती है। जब भगवान्‌का आह्वान सुनता है, साधक उस समय जगत्‌की ओर नहीं देखता। बुद्धने भी नहीं देखा, जो प्रेमके साधक नहीं थे। जरा-सा एक बार मुड़कर देखा, फिर मुँह मोड़ लिया। बादमें प्रश्न होता है कि 'यह तो अपना-अपना काम था। दूसरेका काम करती होतीं, तब तो इस प्रकार छोड़कर नहीं जा सकती थीं।' किंतु यह भी हुआ। (**परिवेषयन्त्यः तत् हित्वा**) घरवालोंको भोजन परोस रही थीं, यह

एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः॥
बुद्धिर्मनो महद् वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या।
चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम्॥

(२३, २४, २५)

'चेदिराज! हमलोग किसी कामनासे, अपना सम्बन्धी मानकर अथवा इन्होंने हमारा किसी प्रकारका उपकार किया है, इस दृष्टिसे श्रीकृष्णकी पूजा नहीं कर रहे हैं। हमारी दृष्टि तो यह है कि ये इस भूमण्डलके सभी प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाले हैं और बड़े-बड़े संत-महात्माओंने इनकी पूजा की है। श्रीकृष्णके गुणोंको ही दृष्टिमें रखते हुए हमने वयोवृद्ध पुरुषोंका उल्लंघन करके इनको ही परम पूजनीय माना है। ब्राह्मणोंमें वही पूजनीय समझा जाता है, जो ज्ञानमें बड़ा हो तथा क्षत्रियोंमें वही पूजाके योग्य है, जो बलमें सबसे अधिक हो। वैश्योंमें वही सर्वमान्य है, जो धन-धान्यमें बढ़कर हो, केवल शूद्रोंमें ही जन्मकालको ध्यानमें रखकर, जो अवस्थामें बड़ा हो उसको पूजनीय माना जाता है। श्रीकृष्णके परम पूजनीय होनेमें दोनों ही कारण विद्यमान हैं। दान, दक्षता, शास्त्रज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि और पुष्टि—ये सभी सद्गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य विद्यमान हैं। श्रीकृष्ण हमारे ऋत्विक्, गुरु, आचार्य, स्नातक, राजा और प्रिय मित्र सब कुछ हैं; इसीलिये हमने इन अच्युतकी अग्रपूजा की है।

'भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। यह सारा चराचर विश्व इन्हींके लिये प्रकट हुआ है। ये ही अव्यक्त प्रकृति सनातन कर्ता तथा सम्पूर्ण भूतोंसे परे हैं, अतः ये भगवान् अच्युत ही सबसे बढ़कर पूजनीय हैं। महत्तत्त्व, अहंकार, मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके प्राणी सभी भगवान् श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं।'

'इनके मस्तक सहस्त्रों मुकुटोंसे मण्डित हैं। ये महान् तेजस्वी देवता हैं। सम्पूर्ण विश्व इन्हींका स्वरूप है। इनके अनेक वर्ण हैं। ये देवताओंके भी आदिकारण हैं और अव्यक्त प्रकृतिसे परे (अपने सच्चिदानन्दघनस्वरूपमें स्थित) हैं। देवाधिदेव भगवान् नारायण चतुर्मुख भगवान् (के रूपमें ये ही) ब्रह्माकी सृष्टि करके सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये क्षीरसागरमें निवास करते हैं। ब्रह्माजी सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकोंके पितामह हैं, इसलिये श्रीनारायणदेव सबके प्रपितामह हैं। जो अव्यक्त होते हुए व्यक्त शरीरमें स्थित हैं, सृष्टि और प्रलयकालमें भी जो नित्य विद्यमान रहते हैं, उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणने इस जगत्की रचना की है। युधिष्ठिर! इन भगवान् श्रीकृष्णने ही नारायणरूपमें स्थित होकर स्वयं ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा और धर्मकी सृष्टि की है। ये समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं और लीलावश अनेक रूपोंमें अवतीर्ण होते रहते हैं। इनके सभी अवतार दिव्य हैं और देवगणोंसे संयुक्त भी हैं। मैं उन सबका वर्णन करता हूँ।'

तदनन्तर वराह, नृसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा कल्कि अवतारोंकी कथा संक्षेपमें कहकर अन्तमें बतलाते हैं—

वासुदेव इति ख्यातो लोकानां हितकृत् सदा।
वृष्णीनां च कुले जातो भूमेः प्रियचिकीर्षया॥
स नृणामभयं दाता मधुहेति स विश्रुतः।
शकटार्जुनरामाणां किल स्थानान्यसूदयत्॥
कंसादीन् निजघानाजौ दैत्यान् मानुषविग्रहान्।
अयं लोकहितार्थाय प्रादुर्भावो महात्मनः॥

'वासुदेवके नामसे इनकी प्रसिद्धि है। ये सदा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहते हैं। भूदेवीका प्रिय कार्य करनेकी इच्छासे इन्होंने वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण किया है। ये ही मनुष्योंको अभयदान करनेवाले हैं। इन्हींकी 'मधुसूदन' नामसे प्रसिद्धि है। इन्होंने ही शकटासुर, यमलार्जुन

(२)

इसी प्रसंगमें युधिष्ठिरके पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन करते हुए भीष्मपितामह कहते हैं—

अव्यक्तो व्यक्तलिंगस्थो य एष भगवान् प्रभुः।
पुरा नारायणो देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः॥
सहस्रशीर्षा पुरुषो ध्रुवोऽव्यक्तः सनातनः।
सहस्राक्षः सहस्रास्यः सहस्रचरणो विभुः।
सहस्रबाहुः साहस्रो देवो नामसहस्रवान्॥

'ये सर्वशक्तिमान् भगवान् अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त स्वरूप धारण करके स्थित हैं। पूर्वकालमें ये भगवान् श्रीकृष्ण ही नारायणरूपमें स्थित थे। ये ही स्वयम्भू एवं सम्पूर्ण जगत्के प्रपितामह हैं। इनके सहस्रों मस्तक हैं। ये ही पुरुष, ध्रुव, अव्यक्त एवं सनातन परमात्मा हैं। इनके सहस्रों नेत्र, सहस्रों मुख और सहस्रों चरण हैं। ये सर्वव्यापी परमेश्वर सहस्रों भुजाओं, सहस्रों रूपों और सहस्रों नामोंसे युक्त हैं।'

सहस्रमुकुटो देवो विश्वरूपो महाद्युतिः।
अनेकवर्णो देवादिरव्यक्ताद् वै परः स्थितः॥
सृष्ट्वा चतुर्मुखं देवं देवो नारायणः प्रभुः।
स लोकानां हितार्थाय क्षीरोदे वसति प्रभुः॥
ब्रह्मा च सर्वदेवानां लोकस्य च पितामहः।
ततो नारायणो देवः सर्वस्य प्रपितामहः॥
अव्यक्तो व्यक्तलिंगस्थो य एष भगवान् प्रभुः।
नारायणो जगच्चक्रे प्रभवाप्ययसंहितः॥
एष नारायणो भूत्वा हरिरासीद् युधिष्ठिर।
ब्रह्माणं शशिसूर्यौ च धर्मं चैवासृजत् स्वयम्॥
बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति कार्यतः।
प्रादुर्भावांस्तु वक्ष्यामि दिव्यान् देवगणैर्युतान्॥

और पूतनाके मर्मस्थानोंमें आघात करके उनका संहार किया है। मनुष्य-शरीरमें प्रकट हुए कंस आदि दैत्योंको युद्धमें मार गिराया। परमात्माका यह अवतार भी लोकहितके लिये ही हुआ है।'

(३)

(भीष्मपर्व, अ० ५९)

महाभारत-युद्धके तीसरे दिन भीष्मपितामहने घोर संहार आरम्भ कर दिया। पाण्डवपक्षमें हाहाकार मच गया। तब भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भीष्मके संहारकी इच्छा की और सुदर्शनचक्रका स्मरण किया। स्मरण करते ही सुदर्शन हाथमें आ गया। भगवान् रथसे उतर पड़े और बड़े वेगसे चक्र घुमाते हुए भीष्मकी ओर झपटे। उनके भयानक पदाघातसे पृथ्वी हिलने लगी और दिशाएँ काँप उठीं—'**संकम्पयन् गां चरणैर्महात्मा वेगेन कृष्णः प्रससार भीष्मम्।**' मानो समस्त जगत्का संहार करनेको उद्यत उठी हुई प्रलयाग्निके समान भगवान्‌को चक्र हाथमें लिये वेगसे आते देख, तनिक भी भय या घबराहटका अनुभव न करते हुए 'इच्छामृत्यु' परम ज्ञानी श्रीभीष्म अपने धनुषको खींचते हुए अनन्त पुरुषार्थशाली भगवान् श्रीकृष्णका आवाहन करते हुए बोले—

एह्येहि देवेश जगन्निवास
नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे।
प्रसह्य मां पातय लोकनाथ
रथोत्तमात् सर्वशरण्य संख्ये॥
त्वया हतस्यापि ममाद्य कृष्ण
श्रेयः परस्मिन्निह चैव लोके।
सम्भावितोऽस्म्यन्धकवृष्णिनाथ
लोकैस्त्रिभिर्वीर तवाभियानात्॥

(९७-९८)

'आइये, आइये; देवेश्वर! जगन्निवास ! आपको नमस्कार है।

हाथमें चक्र धारण किये हुए माधव! सबको शरण देनेवाले लोकनाथ! आज युद्धभूमिमें बलपूर्वक इस उत्तम रथसे मुझे मार गिराइये। श्रीकृष्ण! आज आपके हाथसे यदि मैं मारा जाऊँगा तो इहलोक और परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा। अन्धक और वृष्णिकुलकी रक्षा करनेवाले वीर! आपके इस आक्रमणसे तीनों लोकोंमें मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी।'

उसी क्षण अर्जुन पीछेसे दौड़कर भगवान्‌के चरणोंको पकड़कर उन्हें लौटा ले गये।

(४)

(भीष्मपर्व, अ० १०६)

इसी प्रकार नवें दिन पुनः भीष्मजीके द्वारा पाण्डव-सेनामें प्रलयका-सा दृश्य उपस्थित देखकर भगवान् श्रीकृष्ण हाथमें केवल चाबुक लिये बारम्बार सिंहनाद करते हुए भीष्मकी ओर बड़े वेगसे दौड़े। आज भी भीष्मने कमलनयन श्रीकृष्णको आते देख तनिक भी भयभीत न हो, अपने विशाल धनुषको खींचते हुए व्यग्रताशून्य मनसे भगवान् गोविन्दको सम्बोधित करके कहा—

उवाच चैव गोविन्दमसम्भ्रान्तेन चेतसा।
एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते॥ ६४॥
मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे।
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ॥ ६५॥
श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः।
सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे॥ ६६॥
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ। ६६ $\frac{१}{२}$ ।

'आइये! आइये! कमलनयन! देवदेव! आपको नमस्कार है। सात्वतशिरोमणे! इस महासमरमें आज मुझे मार गिराइये। देव! पापरहित श्रीकृष्ण! आपके द्वारा संग्राममें मारे जानेपर संसारमें सब ओर

मेरा परम कल्याण ही होगा। गोविन्द! आज इस युद्धमें मैं तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित हो गया। अनघ! मैं आपका दास हूँ। आप अपने इच्छानुसार मुझपर प्रहार कीजिये।'

(५)

पितामह भीष्म दुर्योधनको श्रीकृष्णकी महिमा समझाते हुए कहते हैं—

(भीष्मपर्व, अ० ६६)

एतच्छ्रुतं मया तात ऋषीणां भावितात्मनाम्।
वासुदेवं कथयतां समवाये पुरातनम्॥ २६॥
रामस्य जामदग्न्यस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः।
व्यासनारदयोश्चापि सकाशाद् भरतर्षभ॥ २७॥
एतमर्थं च विज्ञाय श्रुत्वा च प्रभुमव्ययम्।
वासुदेवं महात्मानं लोकानामीश्वरेश्वरम्॥ २८॥
(जानामि भरतश्रेष्ठ कृष्णं नारायणं प्रभुम्।)।
यस्य चैवात्मजो ब्रह्मा सर्वस्य जगतः पिता।
कथं न वासुदेवोऽयमर्च्यश्चेज्यश्च मानवैः॥ २९॥
यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः।
योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः॥ ३४॥
राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः॥ ३५॥

'तात! एक समय शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका एक समाज जुटा हुआ था, जिसमें वे पुरातन भगवान् वासुदेवकी माहात्म्य-कथा कह रहे थे। उन्हींके मुँहसे मैंने ये सब बातें सुनी हैं। भरतश्रेष्ठ! इसके सिवा जमदग्निनन्दन परशुराम, बुद्धिमान् मार्कण्डेय, व्यास तथा नारदसे भी मैंने यह बात सुनी है। भरतकुलभूषण! इस विषयको सुन और समझकर मैं वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको अविनाशी, प्रभु,

परमात्मा, लोकेश्वरेश्वर और सर्वशक्तिमान् नारायण जानता हूँ। सम्पूर्ण जगत्‌के पिता ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं, वे भगवान् वासुदेव मनुष्योंके लिये आराधनीय तथा पूजनीय कैसे नहीं हैं?'

'ये चराचरगुरु भगवान् श्रीहरि तीनों लोकोंको धारण करते हैं। ये ही योद्धा हैं, ये ही विजय हैं और ये ही विजयी हैं। सबके कारणभूत परमेश्वर भी ये ही हैं। राजन्! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप और तम एवं रागसे रहित हैं। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।'

(भीष्मपर्व, अ० ६७)

अग्रजं सर्वभूतानां संकर्षणमकल्पयत्।
तस्मान्नारायणो जज्ञे देवदेवः सनातनः॥ ११॥
नाभौ पद्मं बभूवास्य सर्वलोकस्य सम्भवात्।
तस्मात् पितामहो जातस्तस्माज्जातास्त्विमाः प्रजाः॥ १२॥
केशवः परमं तेजः सर्वलोकपितामहः।
एनमाहुर्हृषीकेशं मुनयो वै नराधिप॥ २१॥
एवमेनं विजानीहि आचार्यं पितरं गुरुम्।
कृष्णो यस्य प्रसीदेत लोकास्तेनाक्षया जिताः॥ २२॥
यश्चैवैनं भयस्थाने केशवं शरणं व्रजेत्।
सदा नरः पठंश्चेदं स्वस्तिमान् स सुखी भवेत्॥ २३॥
ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः।
भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः॥ २४॥
स तं युधिष्ठिरो ज्ञात्वा याथातथ्येन भारत।
सर्वात्मना महात्मानं केशवं जगदीश्वरम्।
प्रपन्नः शरणं राजन् योगानां प्रभुमीश्वरम्॥ २५॥

'इन पूर्णतम परमात्मा श्रीकृष्णने पहले सम्पूर्ण भूतोंके अग्रज संकर्षणको प्रकट किया। उनसे सनातन देवाधिदेव नारायणका प्रादुर्भाव

हुआ। नारायणकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ। सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके स्थानभूत उस कमलसे पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीसे ये सारी प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं।'

'नरेश्वर! सम्पूर्ण लोकोंके पितामह भगवान् श्रीकृष्ण परम तेज हैं। मुनिजन इन्हें 'हृषीकेश' कहते हैं। इस प्रकार इन भगवान् गोविन्दको तुम आचार्य, पिता और गुरु समझो। भगवान् श्रीकृष्ण जिनके ऊपर प्रसन्न हो जायँ, वह अक्षय लोकोंपर विजय पा जाता है। जो मनुष्य भयके समय इन भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेता है और सर्वदा इस स्तुतिका पाठ करता है, वह सुखी एवं कल्याणका भागी होता है। जो मानव भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते; भगवान् जनार्दन उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं। भरतवंशी नरेश ! इस बातको अच्छी तरह समझकर राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण हृदयसे योगोंके स्वामी, सर्वसमर्थ जगदीश्वर एवं महात्मा भगवान् केशवकी शरण ली है।'

(१)

वनमें पाण्डवोंसे मिलनेपर अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—(वनपर्व, अ० १२)

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव।
निधानं तपसां कृष्ण यज्ञस्त्वं च सनातनः॥ १७॥

'केशव! आप क्षेत्रज्ञ (सबके आत्मा), समस्त भूतोंके आदि और अन्त, तपस्याके अधिष्ठान, यज्ञ और सनातन पुरुष हैं।'

स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परंतप।
ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यमोऽनलः॥
वायुर्वैश्रवणो रुद्रः कालः खं पृथिवी दिशः।
अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरुषोत्तम॥ (२१-२२)

'परंतप! आप ही पहले नारायण होकर फिर हरिरूपमें प्रकट हुए।

ब्रह्मा, सोम, सूर्य, धर्म, धाता, यम, अनल, वायु, कुबेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथ्वी, दिशाएँ, चराचर-गुरु, सृष्टिकर्ता और अजन्मा आप ही हैं।'

न क्रोधो न च मात्सर्यं नानृतं मधुसूदन।
त्वयि तिष्ठति दाशार्ह न नृशंस्यं कुतोऽनृजुः॥ ३५॥

'मधुसूदन! वास्तवमें आपमें न तो क्रोध है, न मात्सर्य है, न असत्य है, न निर्दयता ही है। दाशार्ह! फिर आपमें कठोरता तो हो ही कैसे सकती है?'

(२)

श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥

(१०। १२—१५)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं। आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। देवर्षि नारद, असित, देवलऋषि, महर्षि व्यास भी ऐसे ही कहते हैं। स्वयं आप भी मेरे प्रति यही कहते हैं। केशव! मेरे प्रति आप जो कुछ भी कहते हैं, उस सबको मैं सत्य मानता हूँ। भगवन्! आपके स्वरूपको न दानव जानते हैं, न देवता ही। भूतभावन! भूतेश! देवदेव! जगत्पते! पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेको जानते हैं।'

वनमें भगवान् श्रीकृष्णसे द्रौपदी कहने लगी—
(वनपर्व, अ० १२)

विष्णुस्त्वमसि दुर्धर्ष त्वं यज्ञो मधुसूदन।
यष्टा त्वमसि यष्टव्यो जामदग्न्यो यथाब्रवीत्॥ ५१॥
ऋषयस्त्वां क्षमामाहुः सत्यं च पुरुषोत्तम।
सत्याद् यज्ञोऽसि सम्भूतः कश्यपस्त्वां यथाब्रवीत्॥ ५२॥
साध्यानामपि देवानां शिवानामीश्वरेश्वर।
भूतभावन भूतेश यथा त्वां नारदोऽब्रवीत्॥ ५३॥
ब्रह्मशंकरशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः।
क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र बालः क्रीडनकैरिव॥ ५४॥
द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भ्यां च पृथिवी प्रभो।
जठरं त इमे लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः॥ ५५॥
लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश।
नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ ५८॥
मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिवौकसाम्।
त्वयि सर्वं महाबाहो लोककार्यं प्रतिष्ठितम्॥ ५९॥

'दुर्धर्ष मधुसूदन! आप ही विष्णु हैं, आप ही यज्ञ हैं, आप ही यजमान हैं आप ही यजन करनेयोग्य श्रीहरि हैं, जैसा कि जमदग्निनन्दन श्रीपरशुरामजीका कथन है। पुरुषोत्तम! महर्षिगण आपको क्षमा और सत्यका स्वरूप कहते हैं। सत्यसे उत्पन्न यज्ञ भी आप ही हैं। यह श्रीकश्यपजीका कहना है। भूतभावन! भूतेश्वर! आप साध्य देवताओं तथा कल्याणकारी रुद्रोंके अधीश्वर हैं, नारदजीने आपके सम्बन्धमें यह कहा है। नरश्रेष्ठ! जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, वैसे ही आप ब्रह्मा, शंकर तथा इन्द्र आदि देवताओंके साथ बार-बार खेलते रहते हैं। प्रभो! स्वर्गलोक आपके मस्तकसे और पृथ्वी आपके चरणोंसे व्याप्त है। ये सब लोक आपके उदरस्वरूप हैं। आप सनातन पुरुष हैं। लोक, लोकपाल, नक्षत्र, दसों

दिशाएँ, आकाश, चन्द्रमा तथा सूर्य आपमें प्रतिष्ठित हैं। महाबाहो! पृथ्वीके प्राणियोंकी मृत्युपरवशता, देवताओंकी अमरता तथा समस्त जगत्के सारे कार्य सब कुछ आपमें ही प्रतिष्ठित हैं।'

वनमें मुनि मार्कण्डेयजी युधिष्ठिरसे कहते हैं—
(वनपर्व, अ० १८९)

यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः।
स एष पुरुषव्याघ्र सम्बन्धी ते जनार्दनः॥ ५२॥
अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम्।
दीर्घमायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दमरणं मम॥ ५३॥
स एष कृष्णो वार्ष्णेयः पुराणपुरुषो विभुः।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः॥ ५४॥
एष धाता विधाता च संहर्ता चैव शाश्वतः।
श्रीवत्सवक्षा गोविन्दः प्रजापतिपतिः प्रभुः॥ ५५॥
दृष्ट्वेमं वृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मामियमागता।
आदिदेवमयं जिष्णुं पुरुषं पीतवाससम्॥ ५६॥
सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः॥ ५७॥

'नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर! पुरातन प्रलयके समय मुझे जिन पद्मदललोचन देव भगवान् बालमुकुन्दका दर्शन हुआ था, तुम्हारे सम्बन्धी ये भगवान् श्रीकृष्ण वे ही हैं। कुन्तीनन्दन! इन्हींके वरदानसे मुझे पूर्वजन्मकी स्मृति भूलती नहीं है। मेरी दीर्घकालीन आयु और स्वच्छन्द मृत्यु भी इन्हींकी कृपाका प्रसाद है। ये वृष्णिकुलभूषण महाबाहु श्रीकृष्ण ही वे सर्वव्यापक, अचिन्त्यस्वरूप, पुराणपुरुष श्रीहरि हैं, जिन्होंने पहले बालरूपमें मुझे दर्शन दिये थे। वे ही यहाँ अवतीर्ण हो भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते दीख रहे हैं। श्रीवत्स जिनके वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ाता है, ये भगवान् गोविन्द ही इस विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार

करनेवाले, सनातन प्रभु और प्रजापतियोंके भी पति हैं। इन आदिदेवमय, विजयशील, पीताम्बरधारी, परमपुरुष, वृष्णिकुल-भूषण श्रीकृष्णको देखकर मुझे उस पुरातन घटनाकी स्मृति हो आयी है। कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवो! ये माधव ही सम्पूर्ण प्राणियोंके पिता और माता हैं, ये ही सबको शरण देनेवाले हैं। अतः तुम सब लोग इन्हींकी शरण ग्रहण करो।'

(१)

श्रीकृष्ण-तत्त्वके ज्ञाता भक्त संजय राजा धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं—

(उद्योगपर्व, अ० ६८)

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः।
सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः॥ ७ ॥
यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥ ९ ॥
कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम्॥ १२॥
कालस्य च हि मृत्योश्च जंगमस्थावरस्य च।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥ १३॥
ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः॥ १४॥
तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः।
ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः॥ १५॥

'एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो और दूसरी ओर अकेले भगवान् श्रीकृष्ण हों तो सारभूत बलकी दृष्टिसे वे भगवान् जनार्दन ही सम्पूर्ण जगत्से बढ़कर सिद्ध होंगे।'

'जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा और सरलता है, उसी ओर भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं और जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है।'

'ये भगवान् केशव ही अपनी योगशक्तिसे निरन्तर कालचक्र, संसारचक्र तथा युगचक्रको घुमाते रहते हैं। मैं आपसे यह सच कहता हूँ कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु तथा चराचर जगत्के स्वामी एवं शासक हैं। महायोगी श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्के स्वामी एवं ईश्वर होते हुए भी खेतीको बढ़ानेवाले किसानकी भाँति सदा नये-नये कर्मोंका आरम्भ करते रहते हैं। भगवान् केशव अपनी मायाके प्रभावसे सब लोगोंको मोहमें डाले रहते हैं; किंतु जो मनुष्य केवल इन्हींकी शरण ले लेते हैं, वे इनकी मायासे मोहित नहीं होते हैं।'

(२)

राजा धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजय श्रीकृष्णके कुछ नामोंका रहस्य बतला रहे हैं—
(उद्योगपर्व, अध्याय ७०)

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः॥ ६॥
पुण्डरीकं परं धाम नित्यमक्षयमव्ययम्।
तद्भावात् पुण्डरीकाक्षो दस्युत्रासाज्जनार्दनः॥ ६॥
यतः सत्त्वान्न च्यवते यच्च सत्त्वान्न हीयते।
सत्त्वतः सात्वतस्तस्मादार्षभाद् वृषभेक्षणः॥ ७॥
न जायते जनित्रायमजस्तस्मादनीकजित्।
देवानां स्वप्रकाशत्वाद् दमाद् दामोदरो विभुः॥ ८॥
हर्षात् सुखात् सुखैश्वर्याद्धृषीकेशत्वमश्नुते।
बाहुभ्यां रोदसी बिभ्रन्महाबाहुरिति स्मृतः॥ ९॥

'कृष्' धातु 'सत्ता' अर्थका वाचक है और 'ण' शब्द 'आनन्द' अर्थका बोध कराता है; इन दोनों भावोंसे युक्त होनेके कारण यदुकुलमें अवतीर्ण हुए नित्य आनन्दस्वरूप श्रीविष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं। नित्य,

अक्षय, अविनाशी एवं परम भगवद्धामका नाम 'पुण्डरीक' है। उसमें स्थित होकर जो अक्षतभावसे विराजते हैं, वे भगवान् 'पुण्डरीकाक्ष' कहलाते हैं। (अथवा 'पुण्डरीक'—कमलके समान उनके 'अक्षि'—नेत्र हैं, इसलिये उनका नाम 'पुण्डरीकाक्ष' है।) दस्युजनोंको त्रास (अर्दन या पीड़ा) देनेके कारण उनको 'जनार्दन' कहते हैं। वे सत्त्वसे कभी च्युत नहीं होते और न सत्त्वसे ही अलग होते हैं, इसलिये सद्भावके सम्बन्धसे उनका नाम 'सात्त्वत' है। 'आर्ष' कहते हैं वेदको। उससे भासित होनेके कारण भगवान्‌का एक नाम 'आर्षभ' है। आर्षभके योगसे ही ये 'वृषभेक्षण' कहलाते हैं। (वृषभका अर्थ है वेद, वही ईक्षण—नेत्रके समान उनका ज्ञापक है; इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'वृषभेक्षण' नामकी सिद्धि होती है।) शत्रुसेनाओंपर विजय पानेवाले ये भगवान् श्रीकृष्ण किसी जन्मदाताके द्वारा जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये 'अज' कहलाते हैं। देवता स्वयं प्रकाशरूप होते हैं, अतः उत्कृष्टरूपसे प्रकाशित होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णको 'उदर' कहा गया है और 'दम' (इन्द्रियसंयम) नामक गुणसे सम्पन्न होनेके कारण उनका नाम 'दाम' है। इस प्रकार 'दाम' और 'उदर' इन दोनों शब्दोंके संयोगसे वे 'दामोदर' कहलाते हैं। वे हर्ष अर्थात् सुखसे युक्त होनेके कारण 'हृषीक' हैं और सुख-ऐश्वर्य-सम्पन्न होनेके कारण 'ईश' कहे गये हैं। इस प्रकार वे भगवान् 'हृषीकेश' नाम धारण करते हैं। अपनी दोनों बाहुओंद्वारा भगवान् इस पृथ्वी और आकाशको धारण करते हैं, इसलिये उनका नाम 'महाबाहु' है।'

अधो न क्षीयते जातु यस्मात् तस्मादधोक्षजः।
नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः॥ १०॥
पूरणात् सदनाच्चापि ततोऽसौ पुरुषोत्तमः।
असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात्॥ ११॥
सर्वस्य च सदा ज्ञानात् सर्वमेतं प्रचक्षते।
सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम्॥ १२॥

सत्यात् सत्यं तु गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः।
विष्णुर्विक्रमणाद् देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते॥ १३॥
शाश्वतत्वादनन्तश्च गोविन्दो वेदनाद् गवाम्।
अतत्त्वं कुरुते तत्त्वं तेन मोहयते प्रजाः॥ १४॥

'श्रीकृष्ण कभी नीचे गिरकर क्षीण नहीं होते, अतः (**'अधो न क्षीयते'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार) 'अधोक्षज' कहलाते हैं। वे नरों (जीवात्माओं) के अयन (आश्रय) हैं, इसलिये उन्हें 'नारायण' भी कहते हैं। वे सर्वत्र परिपूर्ण हैं तथा सबके निवासस्थान हैं, इसलिये 'पुरुष' हैं और सब पुरुषोंमें उत्तम होनेके कारण उनकी 'पुरुषोत्तम' संज्ञा है। वे सत् और असत् सबकी उत्पत्ति और लयके स्थान हैं तथा सर्वदा उन सबका ज्ञान रखते हैं, इसलिये उन्हें 'सर्व' कहते हैं। श्रीकृष्ण सत्यमें प्रतिष्ठित हैं और सत्य इनमें प्रतिष्ठित है। वे भगवान् गोविन्द सत्यसे भी उत्कृष्ट सत्य हैं, अतः उनका एक नाम 'सत्य' भी है। विक्रमण (वामनावतारमें तीनों लोकोंको आक्रान्त) करनेके कारण वे (भगवान् 'विष्णु' कहलाते हैं।) वे सबपर विजय पानेसे 'जिष्णु' शाश्वत (नित्य) होनेसे 'अनन्त' तथा गौओं (इन्द्रियों) के ज्ञाता और प्रकाशक होनेके कारण (**गां विन्दति**) इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'गोविन्द' कहलाते हैं। वे अपनी सत्ता-स्फूर्ति देकर असत्यको भी सत्य-सा कर देते हैं और इस प्रकार सारी प्रजाको मोहमें डाल देते हैं।'

संजयके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा सुनकर उससे प्रभावित हो धृतराष्ट्र स्तवन करने लगे—
(उद्योगपर्व, अ० ७१)

ऋषिं सनातनतमं विपश्चितं वाचः समुद्रं कलशं यतीनाम्।
अरिष्टनेमिं गरुडं सुपर्णं हरिं प्रजानां भुवनस्य धाम॥
सहस्रशीर्षं पुरुषं पुराणमनादिमध्यान्तमनन्तकीर्तिम्।
शुक्रस्य धातारमजं च नित्यं परं परेशं शरणं प्रपद्ये॥

त्रैलोक्यनिर्माणकरं जनित्रं देवासुराणामथ नागरक्षसाम्।
नराधिपानां विदुषां प्रधानमिन्द्रानुजं तं शरणं प्रपद्ये॥

(५—७)

'जो परम सनातन ऋषि, ज्ञानी, वाणीके समुद्र और प्रयत्नशील साधकोंको कलशके जलके सदृश सुलभ होनेवाले हैं, जिनके चरण समस्त विघ्नोंका निवारण करनेवाले हैं, सुन्दर पक्षयुक्त गरुड़ जिनके स्वरूप हैं, जो प्रजाजनोंके पाप-ताप हरनेवाले तथा विश्वके आश्रय हैं, जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो पुराणपुरुष हैं, जिनका आदि-मध्य-अन्त नहीं है, जो अक्षय कीर्तिसे सुशोभित , बीज एवं वीर्य धारण करनेवाले, अजन्मा, नित्य एवं परात्पर परमेश्वर हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण लेता हूँ। जो तीनों लोकोंका निर्माण करनेवाले हैं, जिन्होंने देवताओं, असुरों, नागों तथा राक्षसोंको भी जन्म दिया है, जो ज्ञानी नरेशोंमें प्रधान हैं, इन्द्रके छोटे भाई वामनस्वरूप उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।'

देवर्षि नारद श्रीयुधिष्ठिरसे श्रीमद्भागवत (७। १५) में कहते हैं—

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिंगम्॥ ७५॥
स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च॥ ७६॥
न यस्य साक्षाद् भवपद्मजादिभी
रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्।

मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः
प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः॥ ७७॥

'युधिष्ठिर! इस मनुष्यलोकमें तुमलोग बड़े ही सौभाग्यशाली हो; क्योंकि साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मनुष्यके रूपमें तुम्हारे घरमें गुप्तरूपसे निवास करते हैं। इसीसे संसारभरको पवित्र कर देनेवाले ऋषि-मुनि बार-बार उनका दर्शन करनेके लिये चारों ओरसे तुम्हारे पास आया करते हैं। बड़े-बड़े महापुरुष, जिन मायाके लेशसे रहित परम शान्त परमानन्दानुभवस्वरूप परब्रह्म परमात्माको ढूँढ़ते रहते हैं, वे ही तुम्हारे प्रिय, हितैषी, ममेरे भाई, पूजनीय, आज्ञाकारी, गुरु और स्वयं आत्मा श्रीकृष्ण हैं। शंकर, ब्रह्मा आदि भी अपनी सारी बुद्धि लगाकर 'वे वह हैं—' इस रूपमें उनका वर्णन नहीं कर सके, फिर हम तो कर ही कैसे सकते हैं? हम तो मौन, भक्ति तथा संयमके द्वारा ही उन श्रीकृष्णकी पूजा करते हैं। वे भक्तवत्सल भगवान् हमारी यह पूजा स्वीकार करके हमपर प्रसन्न हों।'

भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें अर्जुनसे कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५। २९)

'अर्जुन! मेरा भक्त मुझको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला और सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद्—स्वार्थरहित प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(७। २५-२६)

'अपनी योगमायासे समावृत मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्मरहित अविनाशी परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता है। अर्जुन! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परंतु मुझको कोई भी पुरुष नहीं जानता है।'

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(७। ७)

'धनंजय! मुझसे अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।'

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

(९। ४—६)

'अर्जुन! मुझ अव्यक्तमूर्ति परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत स्थित हैं, इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ और वे सब भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी योगमाया

और प्रभावको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है; क्योंकि जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पके द्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान।'

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(९। १६—१८)

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

(१०। ३,८)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(१०। २०, ४१-४२)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

(१५। १२)

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो-
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो-
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

(१५। १५)

'क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म मैं हूँ, यज्ञ अर्थात् पंचमहायज्ञादि स्मार्तकर्म मैं हूँ, स्वधा अर्थात् पितरोंके निमित्त दिया जानेवाला अन्न मैं हूँ, ओषधि अर्थात् सब वनस्पतियाँ मैं हूँ एवं मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ। अर्जुन ! मैं ही इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण-पोषण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला तथा पिता-माता और पितामह हूँ और जाननेयोग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। प्राप्त होनेयोग्य तथा भरण-पोषण करनेवाला सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका निवासस्थान और शरण लेनेयोग्य तथा प्रति-उपकार न चाहकर हित करनेवाला और उत्पत्ति-प्रलयरूप तथा सबका आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ।'

'जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित और अनादि तथा लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है। मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार तत्त्वसे समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त हुए बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं।'

'अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। अर्जुन! जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान। अथवा

अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ। इसलिये मुझको ही तत्त्वसे जानना चाहिये।'

'अर्जुन! सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें स्थित है और जो तेज अग्निमें स्थित है, उसको तू मेरा ही तेज जान।'

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्त्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(१५। १८-१९)

'मैं नाशवान् प्राणियोंसे सर्वथा अतीत हूँ और अक्षर (ब्रह्म) से उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ। भारत ! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको 'पुरुषोत्तम' जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(१८। ६४-६५)

'अर्जुन! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय, मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन; क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह

परम हितकारक वचन मैं तेरे लिये कहूँगा। तू मुझमें ही मन लगानेवाला हो, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर। यों करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा। यह मैं सत्य प्रतिज्ञा करके तुझसे कहता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है।'

ऐश्वर्य-लीला

उपर्युक्त प्रसंगोंके उद्धृत वाक्योंसे यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीकृष्णके समकालीन महान्-से-महान् पुरुष उन्हें साक्षात् परात्पर भगवान् समझते थे और उन्होंने स्वयं भी अपनी परात्परता, भगवत्ता तथा सर्वाश्रयताको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है। उनके मंगलमय आविर्भावके समयसे अलौकिक अद्भुत चमत्कारपूर्ण लीलाएँ आरम्भ हो गयी थीं—पूतना, तृणावर्त, शकटासुर, अघासुर आदिका उद्धार, गोवर्धनधारण, कालियदमन, सुरपति इन्द्रके गर्वज्वरका हरण, चतुर्मुख ब्रह्माके ज्ञानदर्प तथा मोहका शमन, माता यशोदाको मुखमें विश्वदर्शन, कुबेरपुत्रोंका वृक्षयोनिसे उद्धार, कंस-उद्धार आदि ऐश्वर्यप्रधान आश्चर्य-लीलाएँ हुईं। कुल चौंसठ दिनोंमें उन्होंने चारों वेद, छहों वेदान्त—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द—आलेख्य, गणित, संगीत तथा वैद्यक; पचास दिनोंमें दसों अंगोंसहित धनुर्वेद और बारह दिनोंमें हाथी, घोड़े आदिकी शिक्षामें पारंगत होनेकी लीला की। फिर गुरुदक्षिणामें सांदीपनि मुनिके मृतपुत्रको ला दिया।

माधुर्य-लीला

इस प्रकार भगवत्ताकी अलौकिक लीलाओंके परिपूर्ण आदर्श जीवनके साथ ही श्रीकृष्णमें मानवताके सभी चरम और परम सद्गुणोंका पूर्ण प्रकाश था। श्रीयशोदा, रोहिणी तथा अन्यान्य मातृस्थानीया वात्सल्यरसमयी गोपदेवियोंको पुत्र-सुखप्रदान, सखाभावसे गोपबालकोंके साथ सम्भ्रमरहित निःसंकोच क्रीडा, वत्स-गोचारण,

गोपांगनाओंके साथ पवित्र मधुर लीला, मधुर-मुरली-वादन आदि व्रजकी मधुर लीलाएँ प्रसिद्ध हैं।

परस्परविरोधी गुण

पिता-माता वसुदेव-देवकीकी सेवा करना और उन्हें ज्ञानोपदेश देना, पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें समागत अतिथियोंके चरण-प्रक्षालन करना और उसी यज्ञमें अग्रपूजन—अर्घ्य स्वीकार करना, अर्जुनका रथ हाँकना और वहीं महान् आचार्य तथा साक्षात् भगवद्रूपसे गीताका उपदेश देना, नारदादि ऋषियोंका पूजन करना और साथ ही उनके द्वारा की हुई पूजाको स्वीकार करना प्रभृति परस्परविरोधी गुणोंका भगवान् श्रीकृष्णमें एकत्र समावेश प्रत्यक्ष था।

आदर्श मानवता तथा सर्वगुणसम्पन्नता

श्रीकृष्ण गानविद्या तथा नृत्यकलाके निपुण ज्ञाता थे। महान् योगीश्वरेश्वर तथा योगेश्वरेश्वर थे। विलक्षण वाग्मी थे— इसीसे जब आप पाण्डवोंकी ओरसे संधि-प्रस्ताव लेकर कौरव-सभामें गये थे, तब हजारों-हजारों ज्ञानी, विद्वान्, तपस्वी, ऋषि-महर्षि-मुनि आपका भाषण सुननेके लिये अपने एकान्त आश्रमोंको त्यागकर वहाँ एकत्र हुए थे। श्रीकृष्ण दीन-दु:खी-दुर्बलोंके सच्चे सेवक तथा हितैषी थे। राजप्रासादके स्वादिष्ट छप्पन भोगका परित्याग कर विदुरजीकी कुटियामें स्वयं जाकर विदुर-पत्नीके दिये हुए साग-सब्जी या केलेके छिलकोंका भोग लगाना, सुदामाके चिउरोंको मुट्ठी भरकर खड़े-खड़े फाँक जाना, मिथिलाराज बहुलाश्वके साथ ही गरीब ब्राह्मण श्रुतदेवके घरका आतिथ्य स्वीकार करना आदि आपके आदर्श लीला-चरित्र हैं।

आदर्श राजनीतिज्ञता

भगवान् श्रीकृष्णके समान आदर्श तथा कुशल राजनीतिज्ञ तो कोई हुए ही नहीं। उनकी राजनीति-निपुणता तथा पवित्र राजनीतिज्ञताकी कहीं कोई उपमा नहीं है। उसमें आदर्श त्याग, न्याय, सत्य, दया,

उदारता, यथार्थ लोकहित तथा विलक्षण जनकल्याण आदि सद्भावोंका पूर्ण विकास है। उनकी राजनीति पाशविकता और आसुरभावका नाश करके सर्वहितकारिणी विशुद्ध मानवता तथा दैवीभावका संस्थापन करनेवाली है। उसमें कहीं भी व्यक्तिगत स्वार्थ, नीच महत्त्वाकांक्षा, नीचाशयता, अभिमान, द्वेष, अधिकारमद, कुर्सीका मोह, ईर्ष्या तथा भोग प्रधानताको स्थान नहीं है।' इस लोकमें सर्वांगीण अभ्युदय तथा 'परम निःश्रेयस्—मोक्षकी प्राप्ति' उसका अमोघ फल है। भगवान् श्रीकृष्ण बड़े-बड़े सम्राटोंके अधिपति तथा पूज्य हैं। न्यायपूर्ण धर्मप्राण आदर्श राज्यों तथा राजाओंके कुशल निर्माता हैं, पर स्वयं किसी भी पदपर आसीन नहीं हैं; वे सदा ही जनसेवक हैं। उनकी राजनीतिको आदर्श मानकर उसे ग्रहण किया जाय तो आज जिस द्वेष-दम्भपूर्ण परोत्कर्ष-असहिष्णु, पदलोलुपता-प्रधान, नीचता तथा क्षुद्र वज्रस्वार्थसे पूर्ण जघन्य राजनीतिके कारण सारे जगत्‌में जो घोर मनोमालिन्य, पाशविक तथा आसुरिक कलह, बढ़ती हुई अशान्ति, जनसाधारणकी भयभीत स्थिति तथा विध्वंसक शस्त्रास्त्रोंके निर्माणमें विज्ञानका दुरुपयोग हो रहा है, वह तत्काल दूर होकर जगत्‌में शान्तिस्थापन तथा मानवजातिका कल्याण हो सकता है।

हमारा यह परम सौभाग्य है कि हमें आज भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्य-महोत्सवके उपलक्ष्यपर भगवान्‌के दिव्य स्मरण करने तथा भगवान्‌के गुण-महत्त्वकी मंगल-चर्चा करनेका सुअवसर मिला है। जगत्‌का भी यह परम सौभाग्य है कि उसे भगवान् श्रीकृष्णके लीलाचरित्रका आदर्श उपलब्ध है। हमारा परम कर्तव्य है कि हम भगवान् श्रीकृष्णका भजन-स्मरण करें, उनके श्रीचरणोंमें मन लगावें और अपने-अपने अधिकार तथा रुचिके अनुसार ज्ञानयोग, भक्तियोग, सतत नाम-गुण-कीर्तन, सर्वकालमें उनका अखण्ड स्मरण, प्रीतिपूर्वक अनन्य भजन, उनके अपने आदर्शके अनुसार निष्कामकर्मका अनुष्ठान, उनका स्वरूप समझकर प्राणी-मात्रकी स्वकर्मके द्वारा सेवा एवं अनन्य

श्रीराधा-माधवका मधुर रूप-गुण-तत्त्व

श्रीराधां परमाराध्यां कृष्णसेवापरायणाम्।
श्रीकृष्णाङ्गसदाध्यात्रीं परमाभक्तिरूपिणीम्॥

स्वेदकम्पकण्टकाश्रुगद्गदादिसंचिता-
मर्षहर्षवामतादिभावभूषणाञ्चिता ।
कृष्णनेत्रतोषिरत्नमण्डनालिदाधिका
मह्यमात्मपादपद्मदास्यदास्तु राधिका॥
या क्षणार्धकृष्णविप्रयोगसंततोदिता
नैकदैन्यचापलादिभाववृन्दमोदिता ।
यत्नलब्धकृष्णसङ्गनिर्गताखिलाधिका
मह्यमात्मपादपद्मदास्यदास्तु राधिका॥

आज श्रीराधा-प्राकट्य-महोत्सवका मंगल दिवस है। श्रीराधाके तीन रूप हैं—

१—शक्तिमान् 'रस' ब्रह्मकी 'भाव' रूपा नित्य ह्लादिनीस्वरूपाशक्ति, जो अनादिकालसे 'अमूर्त' रूपमें शक्तिमान्‌के साथ अपृथक्‌रूपमें विराजित है।

२—उसी 'महाभाव' रूपा ह्लादिनी नित्या शक्तिका अतुलनीय अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यमय 'मूर्त' रूप, जो पृथक्-रूपमें रहकर; सर्वत्यागपूर्वक प्रियतम श्रीकृष्णसुखैकजीवना होकर, उनके मनोऽनुकूल सेवाके लिये अनन्त विचित्र लीला करती हैं और उनके स्वसुखवांछारहित परम त्यागमय विशुद्ध सेवारसका मधुर आनन्दास्वादन पूर्णकाम भगवान् श्रीकृष्ण नित्य अतृप्तरूपसे उत्तरोत्तर बढ़ती हुई लालसाके साथ करते रहते हैं।

३—भक्तिकी सर्वोच्च परिणतिका वह दिव्य रूप, जिसमें भुक्ति-

मुक्तिकी समस्त वासनाओंका पूर्ण त्याग होकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ उनका अनन्य सेवन-भजन किया जाता है।

आजके दिन मंगलमय वृषभानुपुरके रावल ग्राममें इस धराधाममें अमूर्त राधाका 'मूर्त' रूपमें प्राकट्य हुआ था, जिसने अपने जीवनके एक-एक क्षण, एक-एक विचार, एक-एक क्रियाको नित्य प्रेष्ठतम श्रीकृष्णकी सेवामें लगाकर साधकों, भक्तों तथा जगत्के सभी लोगोंके सामने सहज ही भक्तिके यथार्थ स्वरूपका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जीता-जागता उदाहरण उपस्थित किया।

भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधाजीके सम्बन्धमें प्राचीन शास्त्रोंमें तथा अनुभवी संतों-भक्तोंकी मंगलमयी वाणीमें बहुत कुछ लिखा-कहा गया है। संयम-नियम तथा श्रद्धा-विश्वासका अवलम्बन करके यदि उसका अध्ययन-मनन किया जाय तो श्रीराधा-माधवके स्वरूपकी पहले धारणा, पश्चात् अनुभूति हो सकती है और उनकी उपासना करके हम अपना जीवन सफल कर सकते हैं।

त्यागकी आवश्यकता

भगवत्प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार और लौकिक अभ्युदय—सभीकी सिद्धिके लिये त्यागकी आवश्यकता है। त्यागके बिना कभी सफलता नहीं मिलती। त्यागीके पास 'सिद्धि' अपने-आप दौड़ी जाती है और 'भोगी' का जीवन निश्चित असफल होता है। त्यागमें शान्ति—सुख है, भोगमें अशान्ति—दु:ख है। श्रीराधाके भाव, चरित्र, विचार तथा क्रियाका अध्ययन करनेसे हमें त्यागकी सफल शिक्षा मिलती है। प्रेमके बिना साध्य वस्तुकी पूर्ण प्राप्ति नहीं होती और त्यागके बिना प्रेमकी कल्पना भी विडम्बना है। प्रेममें ग्रहण नहीं है, त्याग है; वह लेन-देनका व्यापार नहीं है, समर्पण है। प्रेम देना जानता है, लेना नहीं। इसीलिये कहा गया है कि जहाँ प्रेमके लिये ही प्रेम है, वहाँ 'प्रेम' है; जहाँ कुछ

भी पानेके लिये प्रेम है, वहाँ वह प्रेम नहीं है, 'काम' है। प्रेम 'निर्मल भास्कर' है, काम 'मलयुक्त अन्धकार' है। फिर चाहे 'प्रेम' का नाम 'काम' हो या 'काम' का नाम 'प्रेम' हो। नाममें कोई तत्त्व नहीं है, तत्त्व है भावमें। गोपांगनाओंके और श्रीराधाके प्रेमका नाम 'काम' है, पर वह 'काम' है केवल प्रियतम श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी अनन्य कामना, जिसका सर्वत्यागकी भूमिकामें ही उदय होता है। भगवान् ही नहीं, संसारमें किसीसे भी प्रेम करना हो तो उससे कभी भी, कुछ भी प्राप्त करनेकी कल्पना भी न करो। तुम्हारे पास जो कुछ है, परम सुख मानकर उसे देते रहो उसके सुख-हित-सम्पादनार्थ। अपनेको भूल जाओ, भूले रहो सर्वथा और सर्वदा। धर्ममें प्रेम है तो धर्मके लिये दो, बदलेमें कुछ मत चाहो; चाहो तो धर्मार्थ देनेकी ही वृत्ति और स्थिति चाहो। देशके प्रति प्रेम है तो देशके लिये अपना तथा अपने सर्वस्वका हँसते हुए बलिदान कर दो, बदलेमें कभी कुछ चाहो मत, चाहो तो यही कि देशका सुख-हित ही नित्य अपने जीवनका स्वरूप बना रहे और उसके लिये त्यागकी शक्ति-वृत्ति सदा बढ़ती रहे। पिता-पुत्र, भाई-भाई, गुरु-शिष्य, पड़ोसी-पड़ोसी, पति-पत्नी, मित्र-मित्र—सबमें इसी त्याग-भावनासे देनेकी वृत्ति रखो, पानेकी नहीं। उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ेगा और साथ ही आनन्द बढ़ेगा। याद रखना चाहिये—जहाँ त्याग है, वहाँ प्रेम है और जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है। इसके विपरीत जहाँ ग्रहण है, वहाँ स्वार्थ है और जहाँ स्वार्थ है, वहीं दुःख है। व्रजके मधुर प्रेममें राधा तथा गोपसुन्दरियोंकी रागात्मिका मधुर भक्तिमें पद-पदपर इस 'त्याग' की शिक्षा मिलती है, जिससे त्यागके स्वरूपका पता लगता है, त्यागयुक्त साधनाको प्रोत्साहन मिलता है और त्यागके परम शक्तिमय पाथेयको साथ लेकर साधक निष्काम कर्मयोग, विशुद्ध भक्तियोग और तत्त्व-ज्ञानके मार्गपर अग्रसर होकर अपने ध्येयको सहज ही प्राप्त कर सकता है।

आज इस राधाष्टमीके महोत्सवपर हमलोगोंको श्रीराधाका मंगल-स्मरण करके उनके द्वारा प्रदर्शित त्यागमय प्रेम-पथका ग्रहण करना है, तभी उत्सवकी सार्थकता है। यह निश्चितरूपसे जान लेना चाहिये कि विशुद्ध प्रेम, प्रेमारूपा भक्ति, भाव-राग-अनुरागका पथ, अथवा रसमार्ग सर्वथा संयममय और त्यागमय है। केवल परम त्यागकी नींवपर ही पवित्र प्रेमका मंगल-शोभन प्रासाद बन सकता है, कामके ऊपरसे चमकते गंदे कीचड़पर नहीं। प्रीति, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव—सभीमें उत्तरोत्तर त्याग और समर्पणकी वृद्धि है। जैसे भगवान्‌का सौन्दर्य-माधुर्य प्रतिक्षण वर्द्धमान है, उसी प्रकार प्रेमी भक्तका प्रेम, उसके त्यागमय समर्पणका भाव उत्तरोत्तर प्रतिक्षण वर्द्धमान होना चाहिये। जो भगवान्‌से प्रेम भी करना चाहता है और भोग-जगत्‌में छिपी आसक्ति रखकर भगवान्‌से भोगवासनाकी पूर्ति कराना चाहता है, वह स्वयं ही अपनी वंचना करके अपने लिये नरकका मार्ग प्रशस्त कर रहा है और जगत्‌के प्राणियोंके सामने पतनकारक उदाहरण रख रहा है। अतएव इस क्षेत्रमें आनेवालोंको बड़ी सावधानीके साथ संयम-नियमका पालन करते हुए अपने इन्द्रिय-मन-बुद्धि-प्राण-आत्मा सबको परम प्रेमास्पद भगवान्‌के समर्पणके लिये प्रस्तुत करना चाहिये। इस पवित्र प्रेमके क्षेत्रमें भगवान् केवल त्यागमय अनन्य प्रेमवासनाको देखते हैं—जाति, कुल, विद्या, पद, अधिकार, लोक आदि कुछ भी नहीं देखते, न पिछला इतिहास ही देखते हैं। वे देखते हैं, केवल हमारे चित्तकी वर्तमान स्थितिको, समर्पणकी शुद्ध इच्छाको। वह यदि शुद्ध, तीव्र और एकान्त हो तो प्रेमास्पद भगवान् तत्काल हमें स्वीकार कर लेते हैं और हमारी सारी दुर्बलताओंका तुरंत हरण करके हमें अपना दुर्लभ प्रेम प्रदान करते हैं। इस त्यागकी—इस पूर्ण समर्पणकी शिक्षा मिलती है। श्रीराधाके पावन-निर्मल चरित्रसे,

उनकी आदर्श जीवन-लीलाओंसे। आज हमें उसीका उनके उन्हीं गुणोंका स्मरण-मनन करना है।

श्रीराधाके दिव्यगुण

जो श्रीराधाजी अचिन्त्यानन्तदिव्यगुण-स्वरूप सुर-ऋषि-मुनि-मन-आकर्षक, स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके मनको अपने स्वाभाविक दिव्यगुणोंसे नित्य आकर्षित रखनेवाली हैं, जो विशुद्ध श्रीकृष्णप्रेम-रत्नकी खान हैं, सती अनसूया-अरुन्धती आदि जिनके पातिव्रत-धर्मकी, लक्ष्मी-पार्वती आदि जिनके सौन्दर्य-सौभाग्यकी इच्छा करती हैं, श्रीकृष्ण भी जिनके सद्गुणोंकी गणना नहीं कर सकते और स्वयं श्रीकृष्ण जिनके गुणोंके वशमें हुए रहते हैं, उन दिव्यगुणमयी राधाके असंख्य गुण हैं। अनुभवी भक्तोंने विविध प्रकारसे उनके कुछ गुणोंके दर्शन किये हैं और उनमेंसे कुछ मुख्य-मुख्य गुणोंके नाम बताये हैं। उन्हींमेंसे दो स्थलोंपर बताये हुए इक्यावन प्रधान सहज गुण ये हैं—

१-मधुरा, २-नित्य-नव-वयस्का, ३-चंचलकटाक्षविशिष्टा, ४-उज्ज्वलमृदुमधुरहास्यकारिणी, ५-चारुसौभाग्यरेखाढ्या (हाथ-पैर आदि अंगोंपर सौभाग्यसूचक रेखाओंवाली), ६-गन्धोन्मादित-माधवा (अपनी अंग-सुगन्धसे श्रीकृष्णको उन्मत्त बनानेवाली), ७-संगीतप्रसराभिज्ञा (संगीतविद्यामें निपुणा), ८-रम्यवाक् (मधुरभाषिणी), ९-नर्मपण्डिता, १०-विनीता, ११-करुणापूर्णा (करुणासे पूर्ण हृदयवाली) १२-विदग्धा, १३-पाटवान्विता (सभी कामोंमें चतुरा), १४- लज्जाशीला, १५-सुमर्यादा (प्रेम-मर्यादाकी भलीभाँति रक्षा करनेवाली), १६-धैर्यशालिनी, १७-गाम्भीर्यशालिनी (गम्भीर हृदयवाली), १८-सुविलासा (हाव-भावादिके द्वारा अपने मनोभावोंको समझानेमें चतुर), १९-महाभावपरमोत्कर्षतर्षिणी (विशुद्ध त्यागमय प्रेमके उत्तरोत्तर उत्कर्षके लिये व्यग्र रहनेवाली), २०-गोकुल-प्रेमवसति (गोवंशके

प्रति प्रेमकी निवासस्थली), २१-जगत्-श्रेणीलसद्‌यशा (सारे लोकोंमें जिनका यश व्याप्त है, ऐसी), २२-गुर्वर्पितगुरुस्नेहा (गुरुजनोंके पूर्ण स्नेहको प्राप्त), २३-सखि-प्रणयितावशा (सखियोंके प्रेमके वशीभूत), २४-कृष्णप्रियावलिमुख्या (श्रीकृष्णकी प्रियाओंमें मुख्य) और २५-नित्याधीनमाधवा (श्रीमाधव जिनके नित्य अधीन हैं)।

१-अखिलविकारशून्या-नित्यानन्दमयी, २-भोगत्यागसमर्पितात्मा, ३-अचिन्त्यानन्तदिव्यपरमानन्दस्वरूपा, ४-प्रीतिपराकाष्ठामहाभाव-स्वरूपा, ५-स्वसुखानुसंधानकल्पनालेशशून्या, ६-पतिव्रताशिरोमणि-अरुन्धती-अनसूयादिद्वारा पूजनीया, ७-श्यामविधुवदनचकोरी, ८-श्रीकृष्णमनोमनस्विनी, ९-श्रीकृष्णप्राणप्राणा, १०-ऋषिमुनिमनः-कर्षकचित्ताकर्षिणी, ११-श्रीकृष्णहृदया, १२-श्रीकृष्णजीवना, १३-श्रीकृष्णस्मृतिरूपा, १४-श्रीकृष्णसुखैकमना, १५-श्रीकृष्णानन्द-प्रवर्धिनी,१६-श्रीकृष्णप्राणाधिदेवी, १७-श्रीकृष्णाराध्या, १८-श्रीकृष्णा-राधिका, १९-नित्यकृष्णानुकूल्यमयी, २०-श्रीकृष्णप्रेमतरंगिणी, २१-श्रीकृष्णार्पितमनोबुद्धि, २२-श्रीकृष्णसेवामयी, २३-श्रीकृष्णाश्रया, २४-श्रीकृष्णाश्रिता, २५-श्रीकृष्णकीर्तिध्वजा, २६-श्रीकृष्णात्मस्वरूपा।

इनमें श्रीराधाका एक-एक गुण उनके जीवनका एक-एक इतिहास है। ये गुण भक्तोंके आदर्श ज्योतिर्मय पथ हैं, कर्मयोगियोंके त्यागकी शिक्षा देनेवाले हैं और ज्ञानियोंके तत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले हैं।

श्रीराधा-गोपी-प्रेमका उच्च आदर्श

श्रीराधा-गोपी-प्रेम भगवान् श्रीराधा-माधवकी अत्यन्त निगूढ़ परम-पावन लीलाका तो एक महत्त्वपूर्ण स्वरूप है ही; इसमें आध्यात्मिक साधनाका बहुत ऊँचा आदर्श प्राप्त होता है। इस श्रीराधा-माधव-प्रेमका मंगल-स्मरण करानेवाले इस राधाष्टमीमहोत्सवके अन्यान्य

मंगलकार्योंके अतिरिक्त विशेष आवश्यक तथा अवश्यकर्तव्य तो उस आदर्शको प्राप्त करके उसे यथासाध्य जीवनमें उतारना है—

१—जीवनका चरम और परम लक्ष्य एकमात्र भगवत्प्रेम या भगवान्‌की प्राप्ति ही हो जाय।

२—बुद्धि केवल भगवान्‌का ही विचार करे और जीवनको निरन्तर निश्चितरूपसे भगवान्‌की ओर ही लगाती रहे।

३—मन नित्य-निरन्तर भगवान्‌के ही नाम-रूप-गुण-लीला-तत्त्व-महत्त्वके मंगलमय स्मरणमें ही अनवरत रूपसे लगा रहे।

४—समस्त इन्द्रियाँ सदा-सर्वदा केवल भगवद्विषयोंका ही ग्रहण करती रहें।

५—जीवनका प्रत्येक क्षण, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक सम्बन्ध, प्रत्येक परिस्थिति, प्रत्येक विचार और प्रत्येक कार्य केवल—और केवल भगवान्‌से ही सम्बन्धित हो।

६—चित्तभूमिसे क्षणभर भी भगवान् न हटें। नित्य नयी उमंग तथा नित्य नवीन उत्साहके साथ भगवान्‌का स्मरण-सेवन होता रहे।

७—सारी आसक्ति, सारी ममता केवल एकमात्र भगवान्‌में ही हो जाय और मनमें केवल भगवत्स्मरण तथा भगवत्सेवाकी विशुद्ध कामना—लालसा रहे और वह उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाय।

८—जीवन राग-द्वेष, भोग-ममता-कामना, मद-अभिमान, शोक-विषाद, भय-संदेह और असूया-ईर्ष्यासे सर्वथा रहित हो जाय।

९—प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌के कृपा तथा प्रीतिसे पूर्ण मंगल-विधानके दर्शनसे अनुकूलता तथा आनन्दका अनुभव हो।

१०—जीवन सदा विनय-विनम्र, संयम-नियमपूर्ण, सदाचारपूर्ण, सहज त्यागरूप तथा सदा-सर्वत्र भगवदीय शान्ति तथा सुखका अनुभव करनेवाला हो।

शरणागति आदिके द्वारा उनको संतुष्ट करें और उनकी कृपासे मानव-जीवनको सफल बनायें। कम-से-कम प्रेमपूर्वक उनकी दिव्यलीलाओंका अधिक-से-अधिक श्रवण, गायन, स्मरण करके अपने तन-मन-वाणीका सदुपयोग करें। देवी कुन्तीजीने तो भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका यही प्रयोजन बतलाया है—

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन॥
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥

(श्रीमद्भा० १। ८। ३५-३६)

'इस संसारमें लोग अज्ञान, कामना तथा कर्मोंके कुचक्रमें पड़े हुए पीड़ित हो रहे हैं। उन लोगोंके लिये श्रवण तथा स्मरण करनेयोग्य लीला करनेके लिये ही आपने अवतार लिया है। भक्तजन बार-बार आपकी मधुर दिव्य लीलाओंका श्रवण, गायन, कीर्तन तथा स्मरण करके आनन्दित होते रहते हैं और वे अविलम्ब इस जन्म-मरणके प्रवाहको शान्त करनेवाले आपके श्रीचरणकमलोंका दर्शन प्राप्त करते हैं।'

जय वसुदेव-देवकीनन्दन, जय श्रीनन्द-यशोदालाल।
जय यदुनायक गीतागायक, जय गोपीप्रिय जय गोपाल॥

बोलो नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!

११—सदा-सर्वत्र श्रीराधा-माधवके नित्य-नूतन परमानन्द मंगलमय, पवित्र सौन्दर्य-माधुर्यमय स्वरूपके तथा उनके प्रेमके दर्शन होते रहें और पल-पलमें चित्तके दिव्य भागवतानन्द-सागरमें अनन्त विविध-विचित्र आनन्द-रस तरंगें उछलती रहें।

साधनामय जीवनके आदर्शकी ये कुछ बातें जीवनमें अवश्य आ जायँ, इसका पूर्ण प्रयत्न किया जाय और श्रीराधा-माधवके चरणोंमें इसके लिये कातर प्रार्थना करते रहें। तभी इस मंगलमहोत्सवकी सार्थकता और सफलता है।

श्रीराधा-माधव-जुगल! कीजै कृपा महान।
जा सौं मैं करतौ रहूँ प्रेम-सुधा-रस-पान॥
द्वन्द्वनि में समता रहै, सकल बिषमता खोय।
पद-कमलनि में ही सदा ममता सगरी होय॥
मन सुमिरन करतौ रहै मधुर मनोहर नित्य।
नाम-रूप-गुन कौ, सकल तजि कै भोग अनित्य॥
जय श्रीराधा जयति जय, जय माधव घनस्याम।
जयति समरपनमय बिमल प्रेम नित्य सुखधाम॥

बोलो श्रीश्रीराधारानी और उनके परमाराध्य भगवान् श्रीकृष्णकी जय-जय!

वन्दे वृन्दावनानन्दां राधिकां परमेश्वरीम्।
गोपिकां परमां श्रेष्ठां ह्लादिनीं शक्तिरूपिणीम्॥
हरिपदनखकोटीपृष्ठपर्यन्तसीमा-
तटमपि कलयन्तीं प्राणकोटेरभीष्टम्।
प्रमुदितमदिराक्षीवृन्दवैदग्धिदीक्षा-
गुरुमतिगुरुकीर्तिं राधिकामर्चयामि॥

यदैतत् सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'

(तैत्तिरीय० २। ७)

'वे जो स्वयंकर्ता ('स्वयंरूप' तत्त्व या 'स्वयं भगवान्') हैं वे पूर्ण रसस्वरूप हैं। इन रसस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त करनेपर जीव आनन्दमय हो जाता है।'

जगत्का कारण आनन्द जिससे विकीर्ण होता है, उस 'आनंद-ब्रह्म' का कारणस्वरूप होनेसे श्रुतिने 'रसब्रह्म' को ही परिपूर्ण परात्परस्वरूप बतलाया है। 'सुकृत' शब्दसे 'स्वयंकर्ता' और '**रसो वै सः**' मन्त्रके '**सः**' पदके द्वारा 'पुरुषस्वरूप' सूचित होता है। अतएव वह 'रसब्रह्म' ही 'लीलापुरुषोत्तम' और 'रसिक परब्रह्म' है, ऐसा सिद्ध होता है। 'रसिक' ब्रह्म स्वयं अनन्त आनन्दराशि है, इसलिये उसमें दूसरोंमें 'आनन्द' और 'रस' वितरण करनेकी शक्ति विद्यमान है।

जैसे सविशेष मूर्त पुष्पसे निर्विशेष अमूर्त सुगन्ध सर्वत्र फैलती है, वैसे ही 'सविशेष रसतत्त्व' से 'निर्विशेष आनन्द' का विकास होता है। अतएव पुष्पमें ही जैसे सुगन्ध प्रतिष्ठित है, वैसे ही रसमें ही आनन्दकी प्रतिष्ठा है। गीतामें भगवान्ने कहा है—'**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्।**' 'मैं श्रीकृष्ण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (आश्रय) हूँ।' अभिप्राय यह कि सविशेष रसब्रह्ममें ही निर्विशेष आनन्दब्रह्म प्रतिष्ठित है। अतएव यह मानना चाहिये कि 'आनन्दस्वरूपता' ही परात्परतत्त्वकी शेष सीमा या परिपूर्ण स्वरूप नहीं है, 'रसस्वरूपता' ही उसका परिपूर्ण स्वरूप है।

रसानन्दस्वरूप श्रीकृष्णकी रसास्वादन-समुत्सुकता

ये परिपूर्ण परात्पर दिव्य रसानन्दस्वरूप ब्रह्म श्रीकृष्ण सेवानन्दका बहिष्कार करके केवल विशुद्ध सेवा करनेवाली राधामुख्या गोपसुन्दरियोंकी पवित्र सेवाका 'आनन्द'-रसास्वादन करनेके लिये सदा समुत्सुक रहते हैं।

आनन्दके स्वरूपमें तारतम्य

आनन्दके स्वरूपमें बड़ा तारतम्य है। श्रुतिमें 'लौकिक आनन्द' और 'ब्रह्मानन्द' के भेद बतलाये गये हैं। तैत्तिरीयोपनिषद्‌में कहा गया है—'युवावस्था' हो, श्रेष्ठ आचरण हो, वेदशिक्षा, शासनकुशलता, सफलकर्मण्यता, रोगरहित, सम्पूर्ण अंग तथा इन्द्रियसे युक्त बलवान्, सुदृढ़ शरीर और धन-सम्पत्तिसे पूर्ण पृथ्वीपर अधिकार—यों जिसमें मनुष्यलोकके सब प्रकारके श्रेष्ठ भोगानन्द प्राप्त हों, वह 'मानुषानन्द' है। जो मनुष्ययोनिमें उत्तम कर्म करके 'गन्धर्व' योनिको प्राप्त होते हैं, उनको 'मनुष्य-गन्धर्व' कहते हैं। इन 'मनुष्य-गन्धर्वोंका' आनन्द 'मानुषानन्द' से सौगुना है। अर्थात् उपर्युक्त मानुषानन्द-जैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर आनन्दकी जो एक राशि होती है, उतना आनन्द इन 'मनुष्य-गन्धर्वों' का है। मनुष्य-गन्धर्वोंके आनन्दका सौगुना 'देव-गन्धर्वों' का (देवजातीय जन्मजात गन्धर्वोंका) है। इस आनन्दका सौगुना आनन्द चिरस्थायी 'पितृलोक' को प्राप्त 'पितरों' का है। उसका सौगुना आनन्द 'आजानज देवों' का (जो स्मृति-शास्त्रोक्त कर्मोंके फलस्वरूप इस देवलोकको प्राप्त होते हैं, उनका) है। उसका सौगुना आनन्द 'कर्म-देवताओं' का—जो वेदोक्त कर्मोंके फलरूपमें इस देवलोकको प्राप्त हैं— है। इसका सौगुना आनन्द वसु, आदित्य आदि 'नित्य देवताओं' का है। इन देवताओंके आनन्दका सौगुना आनन्द 'इन्द्र' का है। 'अकामहत'—इन समस्त लोकों—भोगोंकी कामनासे रहित श्रोत्रियको यह आनन्द स्वतः ही प्राप्त है। इन्द्रके आनन्दका सौगुना आनन्द 'बृहस्पति' का है। 'बृहस्पतिके आनन्दका सौगुना आनन्द 'प्रजापति' का है। ऐसे जो प्रजापतिके एक सौ आनन्द हैं, वह 'ब्रह्मा' का एक आनन्द है और यह आनन्द ब्रह्मलोकतकके भोगोंमें कामना- रहित श्रोत्रियको सहज ही प्राप्त है।'

रसानन्दकी उत्कर्षता

इस प्रकार उत्तरोत्तर आनन्दकी अधिकताका वर्णन करते हुए यह दिखाया गया है कि ये जितने भी आनन्द हैं, 'ब्रह्मानन्द' की तुलनामें अति तुच्छ हैं। इसलिये इसके बाद ही श्रुति कहती है कि मन-वाणी उस परमानन्दस्वरूपको न पाकर लौट आते हैं, वेदलक्षणवाक्यकी निवृत्ति हो जाती है। वेद भी इस 'ब्रह्मानन्द' के परिमाणका निर्धारण नहीं कर सकता। इस प्रकारका अवाङ्मनसगोचर आनन्द ही 'ब्रह्मानन्द' है। इस ब्रह्मानन्दसे भी अत्यन्त उत्कर्षसे युक्त 'रसानन्द'—भक्त्यानन्द कहा गया है।

सेवानन्द सबसे बढ़कर

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु ११। १९-२०)

'एकके ऊपर १७ सुन्ना लगानेपर जो संख्या होती है, उसका नाम है 'परार्द्ध'। ब्रह्मानन्दको परार्द्धकी संख्यासे गुणा करनेपर जिस आनन्दकी उपलब्धि होती है, वह आनन्द भी भक्ति-सुख-सागरकी तुलनामें एक परमाणुके समान भी नहीं है। अर्थात् उस आनन्दसे भी भक्ति-सुख अनन्तगुना अधिक है।' श्रीमद्भागवतमें आया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

श्रीमद्भागवतमें ऐसे कई प्रसंग मिलते हैं, जिनमें ब्रह्मानन्द, कैवल्य-मोक्ष आदिकी अपेक्षा भक्ति, प्रेम, लीला-कथा, भगवत्प्रेमियोंके संग तथा भगवत्सेवा आदिको बहुत ऊँचा बताया गया है।

श्रीयादवेन्द्रपुरी महाराज कहते हैं—

नन्दनन्दनकैशोरलीलामृतमहाम्बुधौ ।
निमग्नानां किमस्माकं निर्वाणलवणाम्भसा॥

'श्रीनन्दनन्दनकी किशोरावस्थामें की हुई सुन्दर लीलारूप महान् अमृत-समुद्रमें निमग्न हमलोगोंको निर्वाण-मुक्तिरूप खारे समुद्रकी क्या आवश्यकता है?'

इसीसे भगवत्सेवापरायण जन दिये जानेपर भी सेवाको छोड़कर पाँच प्रकारकी मुक्तियोंको भी स्वीकार नहीं करते। भगवान्‌ने कहा है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

'ऐसे सेवाव्रती मेरे जन मेरी सेवाको छोड़कर, दिये जानेपर भी मेरे धाममें नित्य-निवास, मेरे समान ऐश्वर्य-प्राप्ति, मेरी नित्य-समीपता, मेरे-जैसा रूप और मेरे अंदर समा जाना—ब्रह्मरूप हो जाना—इन पाँच प्रकारके मोक्षको स्वीकार नहीं करते।' क्योंकि यह भगवत्सेवानन्द ब्रह्मानन्दसे कहीं श्रेष्ठ है। ब्रह्मानन्द नित्य एक-रस है, उसमें विलास या नित्य-न्यूनता नहीं है; फिर, वह अनुभवमें भी नहीं आता; क्योंकि उसका अनुभव करनेवाला कोई रहता नहीं। पर भगवत्सेवानन्द-सागरमें निरन्तर अनन्त विचित्र विलास-तरंगें उठती हैं।

विशुद्ध सेवाके लिये 'सेवानन्द' का भी त्याग

इतनेपर भी जो वास्तविक प्रेमी महानुभाव हैं, वे इस सेवानन्दकी भी इच्छा नहीं करते। वे चाहते हैं— 'विशुद्ध अहैतुकी सेवा।' सेवा करते हैं—सेवाके लिये ही। सेवामें यदि कहीं अपने आनन्दका अनुसंधान या आनन्द-प्राप्तिकी वासना रहती है—उसका किंचित् भी आवेश-लेश रहता है, तो उसे प्रेमराज्यमें कलंक और प्रेम-सेवाका

विघ्न माना जाता है और वे इस प्रकारके आनन्दको अपना घोर विरोधी मानकर उसका तिरस्कार करते हैं।

एक बार प्रियतम श्रीकृष्ण एक दिन खेलते-खेलते बहुत थक गये थे; इसीसे वे निकुंजमें ठीक समयपर नहीं पहुँच पाये। श्रीराधारानी उनकी प्रतीक्षा कर रही थीं। वे जब पधारे तो उन्हें अत्यन्त श्रान्त-क्लान्त और उनके विशाल भालपर श्रम-बिन्दु-कण देखकर राधाजीको बड़ी मनोव्यथा हुई। वे आदरपूर्वक उन्हें सुकोमल सुरभित सुमन-शय्यापर शयन कराकर पंखा झलने लगीं और जब स्वेद-बिन्दु नहीं रहे, तब राधाजीको अपार आनन्द मिला। फिर वे धीरे-धीरे उनके पैर दबाने लगीं। श्यामसुन्दरकी श्रान्ति दूर हो गयी, उनके मोहन मुखपर मधुर मृदुहास्यका समुदय हो गया। राधारानीने चाहा—'अब इन्हें कुछ देरतक नींद आ जाय तो इनमें और भी स्फूर्ति आ सकती है।' श्यामसुन्दरके नेत्र निमीलित हो गये। राधा धीरे-धीरे उनके पैर दबा रही थीं। अपने परमाराध्य, प्राणप्राण प्रियतम माधवको इस प्रकार परम आनन्दसे सोते हुए देखकर राधारानीके आनन्दका पार न रहा। उनके शरीरमें आनन्दजनित लक्षण उत्पन्न होने लगे। क्षणभरके लिये 'स्तम्भ' दशा हो गयी और पैर दबाना रुक गया। दूसरे ही क्षण पवित्र अनन्य 'सेवाव्रत' ने प्रकट होकर उन्हें मानो कहा—'राधा! तुम सेवानन्दमें निमग्न होकर सेवा-परित्यागका पातक कर रही हो।' बस, वे तुरंत सावधान हो गयीं और अपने सेवानन्दको धिक्कार देकर उसका तिरस्कार करती हुई बोलीं—'सचमुच, आज मैंने यह बड़ा पाप—अत्यन्त अपराध किया, जो अपने सुखकी चाह रखकर, सेवा-सुखकी परवा न कर आनन्दमें डूब गयी, सेवाके विघ्न सेवानन्दकी साध रखकर सेवा छोड़ बैठी। हाय ! मेरे-जैसी जगत्‌में दूसरी कौन ऐसी स्वार्थसनी नारी होगी, जो अनन्य-सेवा-व्रतकी रक्षा करते हुए प्रियतम-सेवा न कर सकी'—

नव निकुंजमें कृष्ण प्रेष्ठतम थके शरीर पधारे आज।
श्रान्त कलेवर था, सुभालपर श्रम-कणबिंदु रहे थे भ्राज॥
राधा श्रमित देख प्रियतमको हुई दुखी, कर मधु मनुहार।
सुला दिया कोमल कुसुमोंकी शय्यापर प्रियको, दे प्यार॥
करने लगी तुरत, सुरभित पंखेसे, उनको मधुर बयार।
श्रम कम हुआ, स्वेद-कण सूखे, राधाको सुख हुआ अपार॥
करने लगी पाद-संवाहन मृदु कर-कमलोंसे अति स्नेह।
श्रान्ति मिटी, मोहन-मुखपर बरसा मृदु-मधुर हास्यका मेह॥
राधाने चाहा—'प्रियतम अब कर लें निद्राको स्वीकार।
सो जायें कुछ काल, बढ़े जिससे शरीरमें स्फूर्ति-सँभार'॥
नेत्र निमीलित हुए श्यामके, सोये सुखकी नींद मुकुन्द।
शायित प्रियको देख परम सुख, बढ़ा अमित राधा-आनन्द॥
होने लगे उदय तनमें आनन्द चिह्न फिर विविध प्रकार।
हुआ उदय जब 'स्तम्भ', पाद-संवाहन छूटा तब 'क्षण' बार॥
प्रकट हुआ 'सेवाव्रत', तत्क्षण बोला श्रीराधासे आप।
'सेवानन्द-विभोर! किया कैसे सेवा तजनेका पाप?'॥
चौंकी, सजग हो गयी राधा, मनसे निकली करुण पुकार।
बना विघ्न 'सेवा' का 'सेवानन्द' जान, देकर धिक्कार॥
तिरस्कार कर उसका बोली—"मैं मन रख निज सुखकी चाह।
आनँद-मग्न हुई, सेवाकी मैंने की न तनिक परवाह॥
सचमुच मैंने किया आज यह घोर पाप, अतिशय अपराध।
सेवा त्याग रखी मन मैंने 'सेवानन्द'—विघ्नकी साध॥
कौन स्वार्थसे सनी जगत्में मेरे-जैसी होगी अन्य।
जो न कर सकी प्रियतम-सेवा रख 'सेवाव्रत'-भाव अनन्य"॥

विशुद्ध सेवा-रसास्वादनके लिये भगवान्‌के ज्ञान-ऐश्वर्यपर चिच्छक्तिके द्वारा आवरण

इस क्षेत्रमें केवल 'कृष्णसुख-तात्पर्यमयी' विशुद्ध सेवाके लिये प्रेममूर्ति गोपांगनाएँ लोकधर्म, वेदधर्म, लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख, मुक्तिसुख—सबका सहज त्याग करके अत्यन्त प्रीतिके साथ सेवावेशमें तन्मय हुई सेवा-संलग्न रहती हैं। इन समस्त गोपांगनाओंमें श्रीराधारानी ही सर्वशिरोमणि हैं। श्रीराधाने ही अपनी महान् कृष्णसेवाकी अतृप्ति तथा अधीरतामें अपने कायव्यूहरूपमें अनन्त कोटि गोपियोंका रूप धारण किया है। श्रीराधासे ही सब गोपियोंका विस्तार है।

ये कोटि-कोटि कंदर्प-कमनीय-सौन्दर्य भगवान्‌की स्वरूपा-शक्तियाँ अपने कोटि-कोटि आत्माओंसे भी अधिक प्रिय मानकर श्रीकृष्णकी सेवा-उपासना करती रहती हैं और सर्वलोकमहेश्वर अनन्तैश्वर्यस्वरूप, माधुर्य-सौन्दर्य-सुधा-रस-समुद्र, अनन्त परमानन्दोदधि, नित्य-सत्य चित्-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वरूपानन्दसे भी बढ़कर इस दुर्लभ प्रेमरसानन्दमय विशुद्ध सेवा-रसका आस्वादन करनेके लिये सतृष्ण बने हुए, अपनी ही पवित्र इच्छासे, अपनी ही स्वरूपभूता चिच्छक्तिके द्वारा अपने समस्त ज्ञान-ऐश्वर्यको आवृत कर और समस्त हानि-ग्लानिको भूलकर श्रीराधारानी तथा उन रसमहाविटपकी शाखास्वरूपा श्रीगोपांगनाओंके प्रेमानुरूप नित्य-नव असमोर्ध्व सौन्दर्य-माधुर्यलीला-विलासका उदय करके उनके द्वारा प्राप्त परम विशुद्ध 'सेवानन्द' का सदा-सर्वदा अतृप्त हृदयसे आस्वादन करते रहते हैं।

न हानिं न ग्लानिं न निजगृहकृत्यं व्यसनितां
न घोरं नोद्‌घूर्णां न किल कदनं वेत्ति किमपि।
वराङ्गीभिः स्वाङ्गीकृतसुहृदनङ्गाभिरमिते
हरिर्वृन्दारण्ये परमनिशमुच्चैर्विहरति॥

'अनंग-प्रेमको जिन्होंने अपना बन्धु मान लिया है, उन व्रज-सुन्दरियोंसे घिरे हुए सर्वदोष-प्रपंच-माया-हरणकारी स्वयं भगवान् हरि वृन्दावनके निभृतनिकुंजोंमें नित्य विहार करते हैं। वे इस विहारमें इतने मुग्ध रहते हैं कि अपनी हानि, ग्लानि, गृहकृत्य, दुःख, भय, सम्भ्रम और लोकनिन्दा—किसीको भी नहीं जानते।'

इसमें ऐश्वर्यका कहीं रंचमात्र भी प्रकाश नहीं है। केवल और केवल विशुद्ध अनिर्वचनीय दिव्य माधुर्य ही सर्वत्र मूर्तिमान् है। इस माधुर्यमें श्रीकृष्ण सर्वथा ऐश्वर्य-ज्ञानविस्मृत हैं।

क्या भगवान्के ज्ञान-ऐश्वर्यका आवृत होना सम्भव है? और है तो क्या वह दोष नहीं है?

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'नित्य परिपूर्णतम ज्ञानस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके अपने स्वरूपभूत ऐश्वर्य तथा स्वरूपभूत ईश्वरता-ज्ञानको भी क्या कोई आवृत कर सकता है? कर सकता है तो वह कौन है? तथा जिनका ऐश्वर्य-ज्ञान आच्छन्न किया जा सकता है, वे क्या पूर्ण ज्ञान-ऐश्वर्य-शक्तिरूप भगवान् हैं?' इसका उत्तर यह है—

'यह सर्वथा निर्विवाद सत्य है कि भगवान्के परम ज्ञानस्वरूप ऐश्वर्यको—उनकी भगवत्ताको कोई भी आवृत नहीं कर सकता; परंतु मायावृत्ति अविद्या जैसे जीवको संसार-बन्धनमें फँसाकर दुःखका अनुभव करानेके लिये उसके ज्ञानको आवृत करती है और जैसे गुणातीता श्रीव्रजेश्वरी यशोदा आदि महाभाग व्रजपरिकरों या श्रीकृष्णके परिवारके लोगोंको महान् मधुरतम श्रीकृष्णलीला-सुखका अनुभव करानेके लिये चित्-शक्तिकी वृत्ति योगमाया उनके ज्ञानको आवृत कर रखती है, ठीक वैसे ही, स्वयं श्रीकृष्णको उनके 'स्वरूपानन्द' से भी बहुत बढ़े हुए 'आनन्दातिशय' का अनुभव करानेके लिये उन्हींकी

स्वरूपभूत इच्छासे उन्हींकी अपनी चिच्छक्तिकी सारवृत्ति 'प्रेम' ही उनके ऐश्वर्य-ज्ञानको आवृत कर रखता है। यह प्रेम भगवान् श्रीकृष्णका अपना ही स्वरूप है या उनकी अपनी ही लीलामयी स्वरूपाशक्ति है, अतएव उसके द्वारा होनेवाली आवृति न तो दोषरूप होती और न इससे उनकी भगवत्तामें ही कोई बाधा आ सकती है। यह उनकी लीला है, जो उन लीलापुरुषोत्तमसे सदा सर्वथा अभिन्न है।'

माधुर्यलीलाके समय भी ऐश्वर्यकी विद्यमानता

यह भी सर्वथा सत्य है कि श्रीकृष्ण केवल 'षडैश्वर्यपूर्ण' भगवान् ही नहीं— वे अनन्त-अनन्त ऐश्वर्यस्वरूप हैं। उनका दिव्य ऐश्वर्य स्वरूपभूत होनेसे कभी हट या मिट नहीं सकता। इसी प्रकार उनका दिव्य माधुर्य भी अनन्त तथा स्वरूपभूत है। वह भी सदा उनके स्वरूपगत रहता है। परंतु लीलामें कहीं केवल ऐश्वर्यकी लीला होती है, कहीं ऐश्वर्यके साथ किंचित् माधुर्य रहता है, कहीं माधुर्यकी प्रधानता होती है और कहीं केवल माधुर्य ही रहता है। वृन्दावनकी मधुरलीलामें वृन्दावनके विविध-भावसम्पन्न प्रेमीजनोंको विविधरूपोंमें केवल माधुर्यका ही अनुभव होता है।'

वहाँ भी ऐश्वर्य है, समय-समयपर उसका प्राकट्य भी होता है; पर वहाँके प्रेमियोंको उसका पता ही नहीं लगता। छः दिनके श्रीकृष्णने शिशुघातिनी अपार बलवती पूतना राक्षसीके प्राणोंको मातृस्तन चूसनेके रूपमें चूस लिया, किसी सुदर्शन चक्रका स्मरण नहीं किया। पर वात्सल्य-प्रेमरसमयी यशोदा मैयाके मनको इतना प्रत्यक्ष ऐश्वर्य स्पर्श भी नहीं कर सका। उन्होंने समझा—'भगवान् नारायणने मेरे लालाको बचाया है और वे स्वस्तिवाचन कराने तथा गौकी पूँछ लालापर फिराने लगीं।' शिशुत्वकी मुग्धतामें लाला भी सरल कोमल दृष्टिसे माताके

मुँहकी ओर ऐसे ताकते रहे, मानो कुछ हुआ ही नहीं। इसी प्रकार शकटभंजन, अघासुर उद्धार, ब्रह्माको अनन्तरूपमें भगवद्दर्शन, गोवर्धनधारण, कालियमर्दन, विशाल वृक्षोत्पाटन, कुबेरपुत्रोंपर अनुग्रह आदि प्रत्यक्ष ऐश्वर्य प्रकाशकी लीलाओंमें भी, कहीं भी उन्हें ऐश्वर्य नहीं दिखायी दिया। वहाँके महामहिम माधुर्यने वृन्दावनवासियोंके एकच्छत्र माधुर्य-राज्यमें ऐश्वर्यको आने ही नहीं दिया। वह दूरसे ही झाँकता रह गया।

यह बतलाया जा चुका है कि भगवान्‌का ऐश्वर्य सदा ही विद्यमान रहता है। वास्तवमें ऐश्वर्यरहित केवल 'मुग्धता' तो भगवान्‌का माधुर्य है ही नहीं। ऐसी मुग्धता या मोह तो संसारके विषयासक्त लोगों और बच्चोंमें भी रहता है। उसका क्या महत्त्व है? इस माधुर्यमें तो श्रीकृष्णकी सर्वज्ञता, विभुता, सर्वशक्तिमत्ता, ज्ञानस्वरूपता, आनन्दमयता आदि सभी ऐश्वर्य-गुण-माधुर्यकी मुग्धताके पीछे सभी समय छिपे रहते हैं और समय-समयपर अपना लीलाकार्य करते हैं। इसीसे इस भगवत्स्वरूप माधुर्यका प्रकाश होता है।

वृन्दावनमें भी ऐश्वर्यकी लीलामें भेद होता है। वृन्दावनवासियोंपर किसी प्रकारका प्रभाव न पड़नेपर भी कहीं ऐश्वर्यका विशेष प्रकाश होता है, कहीं कम प्रकाश होता है, कहीं बिलकुल ही नहीं हो पाता। यहाँतक कि श्रीगोपांगनाओंके सामने एक बार चतुर्भुजरूपका प्राकट्य हुआ था, पर श्रीराधारानीके सामने आते ही वह लुप्त हो गया। उनके निकट ऐश्वर्य प्रकट रह ही नहीं पाया। इसका कारण यही है कि सभीके भावोंमें, अधिकारमें, स्थितिमें न्यूनाधिकता है और उसीके अनुसार उन्हें भगवत्प्रेम-रसका अनुभव होता है। भक्तोंके प्रेमकी तारतम्यताके कारण ही माधुर्यके विकासमें तारतम्य रहता है। सभीका प्रेम भगवान्‌में एक-सा नहीं होता। यहाँतक कि गोपांगनाओंमें भी सबकी प्रीति समान नहीं मानी जाती।

जन्मके लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभावसे, प्रेमसे मुझे उऋण कर सकती हो; परंतु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ।'

प्रेमराज्यमें मधुररूपमें भगवान्‌की प्राप्ति

इस दिव्य प्रेमके विशाल राज्यमें ही परम मधुर भगवान्‌का नित्य संयोग प्राप्त होता है। नित्य-मधुरातिमधुर भगवान्‌के पावन-मधुर चरण-युगलोंकी प्राप्ति इस प्रेमसे ही होती है; क्योंकि यहाँ भगवान् सहज ही अपनी भगवत्ताको भूलकर प्रेम-परवश हुए रहते हैं। इसीसे एक भक्त कहते हैं—

गोपालाङ्गणकर्दमेषु विहरन् विप्राध्वरे लज्जसे
ब्रूषे गोकुलहुंकृतैः स्तुतिशतैर्मौनं विधत्से सताम्।
दास्यं गोकुलपुंश्चलीषु कुरुषे स्वाम्यं न दान्तात्मसु
ज्ञातं कृष्ण तवाङ्घ्रिपङ्कजयुगं प्रेमैकलभ्यं मुहुः॥

'श्रीकृष्ण! तुम गोपालोंके कीचड़से भरे आँगनमें तो विहार करते हो, पर ब्राह्मणोंके यज्ञमें प्रकट होनेमें तुम्हें लज्जा आती है। एक बछड़ेकी या छोटे-से गोपशिशुकी हुंकार सुनकर 'हाँ' आया— बोल उठते हो; पर सत्पुरुषोंके सैकड़ों स्तुतियाँ करनेपर भी मौन रह जाते हो। गोकुलकी ग्वालिनियोंकी तो गुलामी स्वीकार करते हो, पर इन्द्रियसंयमी पुरुषोंके द्वारा प्रार्थना करनेपर भी उनके स्वामी बनना तुम्हें स्वीकार नहीं है। इससे पता लगता है कि तुम्हारे चरण-कमल-युगलकी प्राप्ति एकमात्र प्रेमसे ही सम्भव है।'

रसब्रह्म केवल भावग्राह्य

श्रुतिमें इस बातका भी संकेत मिलता है कि निर्विशेष या अमूर्त आनन्दब्रह्मकी प्रतिष्ठास्वरूप वह समूर्त रसब्रह्म केवल 'भाव' नामक चिदानन्दमयी वृत्तिके द्वारा ही ग्राह्य होता है—

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्॥

(श्वेताश्वतर० ५ । १४)

'केवल 'भाव' से ही प्राप्त होनेयोग्य, आश्रयरहित (अशरीरी) जगत्‌की सृष्टि और प्रलय करनेवाले शिव—कल्याणस्वरूप देव—परमेश्वरको जो साधक जान लेते हैं, वे शरीरको सदाके लिये त्याग देते अर्थात् जन्म-मृत्युके चक्रसे मुक्त हो जाते हैं'।

वह प्राकृत शरीरसे अतीत दिव्य सच्चिदानन्दमय विग्रह है, इसलिये उसे 'आश्रयरहित'—'निराकार' कहा जाता है।

भावकी पराकाष्ठा श्रीराधारानीमें

'भाव' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ है—'भक्ति'। वस्तुतः महाभाव-स्वरूपा श्रीराधाजी ही समस्त भक्तिस्वरूपोंका मूल स्रोत हैं, अतएव श्रीराधाके परिचयमें भक्तिकी समस्त अवस्थाओंका परिचय स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। जैसे सम्पूर्ण रसोंके अधिपति श्रीकृष्णसे सब रसोंका प्रकाश है, वैसे ही एक मूर्तिमती महाभावस्वरूपा श्रीराधारानीसे ही अव्यक्त-व्यक्त, अमूर्त-मूर्त—सभी भावोंका, भक्तियोंका विकास-विस्तार होता है और वह तदनुरूप रसतत्त्वको ग्राह्य करवा देता है। ह्लादिनी, प्रेम, भाव, महाभाव, प्रीति, अनुरक्ति आदि सब एक श्रीराधारानीके ही अमूर्त भावविशेष हैं।

भावकी पराकाष्ठा ही महाभाव है। यह महाभाव रूढ़ और अधिरूढ़ भेदसे दो प्रकारका है। श्रीकृष्णमें बद्धमूल कान्त (प्रेष्ठ) भाव 'रूढ़-महाभाव' है। और जिस अवस्थामें श्रीकृष्णके दर्शन-स्पर्शनादि सुखकी तुलनामें अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत भूत-भविष्य-वर्तमानके समस्त सुख तथा ब्रह्मानन्दपर्यन्तमें कोई लेशमात्र भी सुख नहीं रह जाता और जिस अवस्थामें श्रीकृष्णके अदर्शनादिजनित दुःखकी तुलनामें करोड़ों-

—प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

'गोपसुन्दरियोंके प्रेमको ही 'काम' के नामसे कहा जाता है।'

भगवान् श्रीकृष्णके अवतारके साधु-परित्राण, दुष्कृतविनाश, धर्मसंस्थापन आदि अनेक विभिन्न प्रयोजन होनेपर भी उनके माधुर्यमय स्वरूपका मुख्य मधुर प्रयोजन है—'स्वरूपाशक्ति श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूपा श्रीव्रजसुन्दरियोंके पवित्र प्रेम-रसानन्दका आस्वादन' और 'स्वरूपभूत अपने प्रेमरसानन्दका वितरण।'

इसके अनेक स्वरूप हैं—जैसे—१-अपने स्वरूपके प्रति अपनी स्वरूपाशक्ति श्रीराधाका जो विलक्षण प्रेम है, उसकी महिमाका आस्वादन, २-एकमात्र श्रीराधामें ही प्रकट मादनाख्य महाभावके द्वारा आस्वाद्य स्वरूपके आश्चर्य चमत्कारमय विलक्षण अपने ही माधुर्यका आस्वादन और ३-श्रीराधाके रूपमें अपनेसे (श्रीकृष्णसे) भी अनन्तगुना अधिक श्रीकृष्णसेवा-माधुर्यका आस्वादन।

भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यके इस मुख्य प्रयोजनकी सिद्धिका परम आधारभूत तथा क्रियात्मक एकमात्र दिव्य साधन हैं—रस-सुधा-सागरकी अनन्त विचित्र तरंगोंसे आप्लावित-हृदय सर्वत्यागमयी श्रीराधा।

मादन-अवस्थामें प्रेमरसके विचित्र आस्वादन

श्रीराधाकी मादनाख्य सर्वश्रेष्ठ भक्तिकी 'गाढ़ तृष्णा' और 'इष्टमें परमाविष्टमति'—इन दो भावोंके कारण श्रीराधा तथा 'समर्था' रतिवती श्रीगोपांगनाओंकी 'प्रियतम-सुख-तात्पर्यमयी' सहज स्वाभाविक चेष्टारूपी सुधारस-तरंगें नित्य नये-नये रूपोंमें तरंगित होती रहती हैं। यहाँतक कि प्रियतम श्रीकृष्णके 'नाम', उनकी कण्ठध्वनि तथा उनके स्वरूप आदिके तनिक-से बाह्य सम्बन्धमात्रसे ही श्रीराधाकी उन्मादावस्था हो जाती है और वे विश्वविस्मारिणी उस मत्तस्थितिमें ही मधुरतम प्रियतम-प्रेम-पीयूषका आस्वाद प्राप्त करती रहती हैं। दो तरंगोंके दर्शन कीजिये—

१—एक बार दो सखियोंके साथ श्रीराधाजी प्रियतम श्रीकृष्णकी मधुरचर्चा कर रही थीं कि उन्होंने किसीसे 'कृष्ण' यह मधुर नाम सुना। नामके इन अक्षरोंके सुनते ही उस नामके नामीके प्रति मनमें प्रेम उमड़ चला। उसी समय मधुर वंशीध्वनि सुनायी दी। उसके कानमें पड़ते ही वंशीवालेके प्रति मनमें प्रीति उछलने लगी। इसी बीच किसीने श्रीकृष्णका चित्र उन्हें दिखा दिया। चित्र देखते ही उनके मनमें जिसका चित्र है, उसके प्रति अकस्मात् आत्यन्तिक रतिका उदय हो आया। राधारानी जानती भी नहीं हैं कि यह दिव्य सुधा-मधुर 'कृष्ण' नाम किसका है, मधुर मुरलीमें किसका मधुर-मनोहर कण्ठस्वर सुनायी दे रहा है और चित्रमें अंकित मनोहर मूर्ति किसकी है। आश्चर्यकी बात यह है कि इसके पता लगानेकी जरा भी अपेक्षा न रखकर तीनोंके ही द्वारा एक ही कालमें राधारानीका चित्त अनिवार्यरूपसे अपहृत हो गया, तब राधारानी अपनेको धिक्कारती हुई बोलीं—

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।
एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्नः परो वीक्षणात्
कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिं श्रेयसीम्॥

(विदग्धमाधव, अंक २। ९)

'एकके—'कृष्ण' इस नामके अक्षर कानोंमें पड़ते ही मेरे मनको लूट लेते हैं, दूसरेकी वंशीध्वनि घनीभूत उन्माद-परम्पराकी प्राप्ति करा देती है और स्निग्ध मेघश्याम कान्तिवाला पुरुष तो एक बारके दर्शन-मात्रसे मेरे हृदयमन्दिरमें आ बसा है। छिः! कितने कष्टकी बात है कि तीन पुरुषोंमें मेरा प्रेम हो गया। इस अवस्थामें तो मर जाना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है।'

२—श्रीराधारानी एक दिन निकुंजमें बड़े प्रेमसे प्रियतम

श्यामसुन्दरको भोजन करा रही थीं। उन्होंने अपने कर-कमलोंसे कई प्रकारके षड्रस-युक्त पदार्थ बनाये थे; वे बड़े चाव तथा मनुहारसे उन्हें परोस रही थीं और प्रियतम सराह-सराहकर मधुर मुसकाते तथा आदर्श विनोद करते हुए भोग लगा रहे थे। इसी बीच एक सखा वहाँ आ गया और उसने कहा—प्यारे कन्हैया! मैंने तो सुना था—'श्यामसुन्दर अभी कालिन्दी-कूलपर क्रीड़ा कर रहे हैं, तुम यहाँ कैसे कब आ गये?' सखाके वचनोंमें 'मैंने सुना था' यह वाक्य तथा 'तुम यहाँ कैसे कब आ गये?' यह वाक्य तो राधाको सुनायी ही नहीं दिये, उनके कानमें केवल यह वाक्य पहुँचा—'श्यामसुन्दर अभी कालिन्दी-कूलपर क्रीड़ा कर रहे हैं।' बस, राधाको प्रेमवैचित्र्य-दशा प्राप्त हो गयी। वे भूल गयीं कि श्यामसुन्दर यहीं विराजित हैं और भोजन कर रहे हैं; वे अत्यन्त व्याकुल हो गयीं और बोलीं—

'याद पड़ रहा है आये थे, भोजन करने मोहन श्याम।
परस रही थी मैं उनको अति रुचिकर भोज्यपदार्थ तमाम॥
यह मेरा भ्रम था, माधव तो खेल रहे कालिन्दी-कूल।
आये क्यों न अभी? क्या क्रीड़ामें वे गये सभी कुछ भूल॥
भूखे होंगे, कैसे उन्हें बुलाऊँ अब मैं यहाँ तुरंत?।
हृदय विदीर्ण हो रहा, कैसे हो इस मेरे दुःखका अन्त॥
बना-बनाया भोजन क्या यह नहीं आयगा प्रियके काम?।
क्या वे इसे धन्य करनेको नहीं पधारेंगे सुखधाम?'॥
माधव सुन हँस रहे प्रियाका यह मधु प्रेमबिलाप-विलास।
बोले—'राधे! चेत करो, देखो, मैं रहा तुम्हारे पास॥
छोड़ दिया क्यों तुमने वस्तु परसना, होकर व्यर्थ उदास?।
भूखा मैं यदि रह जाऊँगा, होगी तुम्हें भयानक त्रास'॥

यों कह, मृदु हँस, माधवने पकड़ा राधाका कोमल हाथ।
चौंकी, बोली—'हाय! हो गयी मुझसे बड़ी भूल यह नाथ'!॥
कैसी मैं अधमा हूँ, जो मैं भ्रमसे गयी जिमाना भूल।
व्यर्थ मान बैठी, प्रिय! तुम हो खेल रहे कालिन्दी-कूल॥
लगी प्रेमसे पुनः परसने विविध स्वादयुत वस्तु ललाम।
भोग लगाने लगे, मधुर लीला पर हँसकर प्रियतम श्याम॥

इस प्रकार राधारानीके प्रेम-रस-सागरमें अनेक नयी-नयी तरंगें उठ-उठकर उन्हें नित्य नवीन प्रेमानन्द-रसका आस्वादन कराती रहती हैं। पर इन सबमें सहज उद्देश्य होता है— एक ही प्रियतम श्रीकृष्णका सुख-सम्पादन। राधाके जीवनका सब कुछ एकमात्र इसीलिये है।

महत्त्व और प्रार्थना

भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधाके महत्त्व तथा उपासनाके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें और भक्त-संतोंकी वाणीमें बहुत कुछ लिखा गया है। यहाँ 'पद्मपुराण पातालखण्ड' के कुछ शब्द उद्धृत किये जा रहे हैं, जो भगवान् शंकर और भगवान् श्रीकृष्णके संवादके हैं। श्रीमहादेवजीको मनोहर यमुनाजीके तटपर सर्वदेवेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके इस रूपमें दर्शन होते हैं—'उनकी किशोर अवस्था है, मनोहर गोपवेष है, प्रिया श्रीराधिकाजीके कंधेपर अपनी मनोहर वाम भुजा रखे हैं, असंख्य गोपियोंसे घिरे हुए हैं, मधुर-मधुर हँस रहे हैं और सबको हँसा रहे हैं। उनके शरीरकी कान्ति सजल जलदके सदृश स्निग्ध श्याम-वर्ण है। वे कल्याणगुणधाम हैं।' उन्होंने हँसते हुए भगवान् शंकरसे कहा—'रुद्र! आपने आज जो मेरे इस अलौकिक दिव्य रूपका दर्शन किया है, उपनिषद् मेरे इसी घनीभूत निर्मल प्रेममय सच्चिदानन्द-विग्रहको अरूप (निराकार), निर्गुण, निष्क्रिय और परात्पर ब्रह्म कहते हैं। मुझमें प्रकृतिजनित

गुण नहीं हैं और मेरे गुण (प्राकृतिक दृष्टिसे) सिद्ध नहीं हैं, इसीसे सब मुझको 'निर्गुण' कहते हैं। मेरा कहीं अन्त नहीं है, इससे लोगोंके द्वारा मैं 'ईश्वर' कहा जाता हूँ। महेश्वर! मेरा यह रूप (प्राकृतिक—पांचभौतिक न होनेके कारण) चर्मचक्षुओंसे इसे कोई देख नहीं सकता, इसलिये वेद मुझे अरूप या 'निराकार' बतलाते हैं। मैं ही चेतन-अंशके रूपमें सर्वव्यापी हूँ, इससे पण्डितगण मुझे 'ब्रह्म' कहते हैं और मैं विश्व-प्रपंचका कर्ता नहीं हूँ, इससे बुधजन मुझे 'निष्क्रिय' कहते हैं। शिव! वास्तवमें ही यह विश्व-सृष्टि आदि कार्य मैं स्वयं नहीं करता। मेरे अंश-गण ही माया-गुणके द्वारा सृष्टि आदि कार्य करते रहते हैं।'

फिर भगवान् श्रीकृष्णने कहा— 'मैं सदा ही इन गोपियोंके प्रेममें विह्वल रहता हूँ— × × × × ये मेरी प्रिया हैं, इनका नाम राधिका है। इनको परम देवता समझो; मैं इनके वशीभूत रहकर सदा ही इनके साथ लीला-विहार करता रहता हूँ।'

इसके बाद गोपीगण, नन्द-यशोदा, गौ तथा वृन्दावन आदिकी महिमा बतलानेके पश्चात् भगवान् महादेवके द्वारा युगलस्वरूपके साक्षात्कारका उपाय पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'रुद्र! जो एक बार हमारी शरणमें आ जाता है, वह दूसरे उपाय छोड़कर निरन्तर हमारी ही उपासना करता है। × × × जो एकमात्र मेरी प्रिया (राधा) की अनन्यभावसे सेवा करता है, वह बिना किसी साधनके निश्चय ही मुझको प्राप्त होता है। × × अतएव यदि कोई मुझे वशमें करना चाहे तो सब प्रकारसे प्रयत्न करके मेरी प्रियाके शरणापन्न हो—'

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियां शरणं व्रजेत्।

(पद्मपुराण, पाताल० ५१। ८६)

अतएव हम सबको भगवान् श्रीकृष्णकी परम प्रियतमा, विशुद्ध

प्रेमकी घनीभूतमूर्ति श्रीराधारानीके चरणोंमें विनयपूर्वक प्रणाम करके उनके शरण होना है और उनके प्राकट्य-महोत्सवके शुभ मंगल-दिवसपर उनकी जय-जयकार करते हुए उनसे प्रेमकी भीख माँगनी है—

रसस्वरूप श्रीकृष्ण परात्पर, महाभावरूपा राधा।
प्रेम विशुद्ध दान दो, कर करुणा अति, हर सारी बाधा ॥
सच्चा त्याग उदय हो, जीवन श्रीचरणोंमें अर्पित हो।
भोग-जगत्‌की मिटे वासना, सब कुछ सहज समर्पित हो ॥
लग जाये श्रीयुगलरूपमें मेरी अब ममता सारी।
हो अनन्य आसक्ति, प्रीति शुचि, मिटे मोह-भ्रम तम भारी ॥
जय हो पूर्ण परात्पर रस माधव मोहनकी जय जय हो।
जय हो महाभावरूपा राधारानीकी जय जय हो ॥

जय जय श्रीराधारानीकी जय जय

श्रीराधामाधव-युगलोपासना

भारतीय सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही हैं। **(ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते)** विभिन्न उपासक-सम्प्रदाय उस एक ही परम तत्त्वकी विभिन्न नाम-रूपोंमें विभिन्न उपासना-पद्धतियोंसे उपासना करते हैं। वह ब्रह्मतत्त्व नित्य स्वरूपभूत शक्तिसे समन्वित है। यह अवश्य है कि सभी लोग उस शक्तिको स्वीकार नहीं करते। शक्ति न माननेवाले लोग ब्रह्मको 'निर्विशेष' या 'निर्गुण' कहते हैं और भक्ति माननेवाले 'सविशेष' या 'सगुण'। इनमें भी दो भेद हैं—एक 'निराकारवादी', दूसरे 'साकारवादी'। निराकारवादी भगवान्‌को सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक बतलाते हैं और साकारवादी उपासक उन्हें अपने-अपने भावानुसार लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश्वर, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि दिव्य युगल-स्वरूपोंमें भजते हैं। वस्तुतः नारायण, विष्णु, महेश्वर, राम, कृष्ण—सब एक ही तत्त्वके विभिन्न स्वरूप हैं। इसी प्रकार इनकी शक्तियाँ—श्रीलक्ष्मी, उमा, सीता, राधा आदि भी एक ही भगवत्स्वरूपा महाशक्तिके विभिन्न लीलास्वरूप हैं। शक्ति नित्य शक्तिमान्‌के साथ है, इसीसे वह शक्तिमान् है और इसीसे वह नित्य युगलस्वरूप है। पर यह नित्य युगलस्वरूप संसारके पृथक्-पृथक् दो स्वतन्त्र व्यक्तियों या पदार्थोंके समान नहीं है। जो हैं तो सर्वथा परस्पर निरपेक्ष भिन्न-भिन्न, पर एक समय एक साथ मिल जानेपर उन्हें 'जोड़ी' या 'युगल' कहते हैं। भगवान् वस्तुतः एक होकर ही पृथक्-पृथक् दो प्रतीत होते हैं। एकके बिना दूसरेका अस्तित्व ही नहीं है। शक्ति है तो शक्तिमान् है और शक्तिमान् है तो उसमें शक्ति रहती है। सूर्य और उसका तेज, अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति, चन्द्रमा और उसकी चाँदनी, जल और

उसकी शीतलता, पद और उसका अर्थ—इनमें जैसे नित्य युगलभाव विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्ममें भी नित्य अविनाभाव-युगलभाव है। वस्तुतः 'शक्ति-समन्वित' और 'शक्तिविरहित' कहना भी नहीं बनता। शक्ति ब्रह्मका अभिन्न स्वरूप ही है। जिस समय वह शक्ति अभिव्यक्त होकर लीलायमान नहीं होती, उस समय 'शक्तिविरहित' और जिस समय अभिव्यक्त होकर लीला करती है, उस समय उसे 'शक्ति-समन्वित' कहते हैं। शक्तियुक्त भगवत्स्वरूपके दो प्रकार हैं—'सगुण निराकार' और 'सगुण साकार'। वस्तुतः शक्ति उनके स्वरूपगत होनेसे 'समन्वित' और 'विरहित' का खास कोई अर्थ नहीं रह जाता।

वेदमूलक उपनिषद्में परमतत्त्वके दो स्वरूप बताये गये हैं—एक 'सर्वातीत' दूसरा 'सर्वकारणात्मक'। 'सर्वकारणात्मक' स्वरूपके द्वारा ही 'सर्वातीत' का पता लगता है और 'सर्वातीत' स्वरूप ही 'सर्वकारणात्मक' स्वरूपका आश्रय है। वस्तुतः ब्रह्मकी अद्वैतपूर्ण सत्ता इन दोनों स्वरूपोंको लेकर ही है। उपनिषद्के दिव्यदृष्टि प्राप्त ऋषियोंने ब्रह्मके एक अद्वितीय देश-काल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा अतीत, सच्चिदानन्द-तत्त्वकी उपलब्धि की और किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करनेयोग्य, चिन्तन करनेयोग्य और धारणामें लानेयोग्य पदार्थके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य न पाकर यह कहा कि 'वह कभी न दीख सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न उसका कोई गोत्र है,न वर्ण है, न उसके आँख-कान और हाथ-पैर आदि हैं।'

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्'।

(मुण्डक० १। १। ६)

वहाँ, उसी समय उसी देशकालातीत, अवस्थापरिणामशून्य, इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगोचर, शान्त, शिव एकमात्र अनन्त सत्तास्वरूप परमात्माको ही सर्वकाल और सम्पूर्ण देशोंमें नित्य विराजित देखा। यहाँतक कि

ध्यानयोगमें उन्होंने उसी परमदेव परमात्माकी उस दिव्य अचिन्त्य स्वरूपभूता शक्तिको भी प्रत्यक्ष देखा, जो अपने ही गुणोंसे छिपी हुई है, तब उन्होंने यह निश्चय किया कि कालसे लेकर आत्मापर्यन्त सम्पूर्ण कारणोंका स्वामी और प्रेरक, सबका परम कारण एकमात्र परमात्मा ही है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

(श्वेताश्वतर० १। ३)

इस प्रकार एक ही ब्रह्म परमात्मा या भगवान् 'सर्वातीत' भी है और 'सर्वरूप' भी है। वह 'सर्वातीत' परमात्मा ही सर्वकारण-कारण सर्वगत, सबमें अनुस्यूत और सबका अन्तर्यामी है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म, भेद-परिणामशून्य, अद्वय परमात्मा ही चराचर भूतमात्रकी योनि है और अनन्त विचित्र सृष्टिका एकमात्र अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। 'नित्य सर्वातीत' और 'नित्य सर्वगत' स्वरूप ही उसकी महनीय भगवत्ता है। वस्तुतः भगवान्‌का नित्य एक रहना और नित्य अनन्त रूपोंमें अपनेको आप ही प्रकट करके सम्भोग करना सब भगवान्‌के ऐसे एकमात्र नित्यस्वरूपके ही अन्तर्गत है। उनका एक रहना और फिर अनन्त रूपोंमें प्रकट हो जाना न तो अद्वैतसे द्वैत स्थितिमें आना है और न एकत्वसे बहुतकी अवस्थामें बदल जाना ही है। उनकी नित्य स्वरूप-सत्तामें किसी कालका प्रभाव नहीं है, न कोई अवस्था या स्थितिका भेद है। वे एकमात्र सच्चिदानन्दघन भगवान् नित्य अभेदभूमिमें ही परस्परविरोधी गुण-धर्मोंको आलिंगन किये हुए हैं। वे अपने सर्वातीत विश्वातीत रूपमें स्थित रहते हुए ही अपनी अनन्ताश्चर्यमयी

अनन्तवैचित्र्यप्रसविनी शक्तिके द्वारा अपने-आपमें ही अनन्त विश्वका सृजन करके अपने-आप ही उसका सम्भोग करते हैं। उन्होंने रमणके लिये दूसरेकी इच्छा की, अपनेको ही एकसे दो कर दिया, पति-पत्नी हो गये।

'........स द्वितीयमैच्छत्।.........स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।'

(बृहदारण्यक० १। ४। ३)

इस मन्त्रका यह अभिप्राय नहीं है कि वे पहले अकेले थे, फिर वे मिथुन (दो.........युगल) हो गये, क्योंकि उनके लिये काल-परम्परासे अवस्था-भेदको प्राप्त होना सम्भव नहीं है। वे नित्य मिथुन (युगल) हैं और इस नित्य युगल-स्वरूपमें ही उनका नित्य-पूर्ण एकत्व है। उनका अपने स्वरूपमें ही अपनी अनन्त सत्ता, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त माधुर्यका अनादि अनन्त अनवरत आस्वादन—नित्य रमण चल रहा है। इस नित्य युगल-स्वरूपमें ही वे दिव्य चिन्मय 'रस' और 'भाव' रूपमें व्यक्त और अव्यक्तभावसे नित्य लीलायमान हैं। अवश्य ही उनकी इस लीलामें प्राकृत पुरुष और नारीके सदृश न तो भौतिक देहेन्द्रिय-भेद है, न कोई अनित्य लौकिक जड-सम्बन्ध ही है। इसलिये वे न 'रमण' हैं न 'रमणी' हैं। पुरुषरूपमें भगवान्‌का निर्विकार निष्क्रिय भाव है। वे नित्य सर्वातीत सच्चिदानन्दस्वरूप हैं और नारीरूपमें उन्हींकी सर्वकारणात्मिका अनन्त लीलामयी स्वरूपाशक्तिका सक्रिय भाव है। वे नित्य अनन्तरूपा लीला-विलासिनीके रूपमें अभिव्यक्त हैं। इस नारीभावकी लीलाभिव्यक्ति ही उनके अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका प्रकाश है। इसी मधुरतम लीलामें 'रस' और 'भाव' का माधुर्य प्रकट होता है और उसीका पूर्णतम स्वरूप है—श्रीकृष्ण और श्रीराधा। वे दोनों नित्य अभिन्न हैं और नित्य दिव्य चिन्मय रसविग्रह

और नित्य दिव्य चिन्मय भावविग्रहके रूपमें अपने स्वरूपभूत परमानन्दमय लीलारसके आस्वादनमें संलग्न हैं। श्रीकृष्ण 'रसराज' हैं और श्रीराधा 'महाभाव' हैं। वस्तुतः इनके लीला-रसास्वादनमें आस्वाद, आस्वादन और आस्वादक तीनों वे स्वयं ही हैं, उनके नित्य-स्वरूपका ही यह लीलाविलास है। भगवान् श्रीकृष्णने राधाजीसे कहा है—

यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति।
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि संततम्॥

'जो तुम हो, वही मैं हूँ, हम दोनोंमें कदापि किंचित् भी भेद नहीं है। जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति और पृथ्वीमें गन्ध है, वैसे ही मैं निरन्तर तुममें हूँ।'

मधुर भक्तिरसके पाँच भाव मुख्यतया माने गये हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें सर्वात्म-निवेदन पूर्ण होनेके कारण 'मधुर' भाव ही परिपूर्णतया सर्वश्रेष्ठ है। शान्तभाव तो मधुर भक्तिरसकी भूमिका है, क्योंकि उसमें मन-इन्द्रियोंका पूर्ण संयम होकर भगवान्में ही उनकी नित्य संलग्नता हो जाती है। पर भगवान्के साथ कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये उसे मधुरभावके अन्तर्गत नहीं माना जाता। दास्य, सख्य, वात्सल्यमें सम्बन्धयुक्त प्रीति होती है। मधुरमें उसका पूर्ण पर्यवसान है। यह मधुरभाव जहाँ पूर्णरूपसे लीलायमान तथा आत्यन्तिकरूपसे अभिव्यक्त होता है, वही 'महाभाव' है और वही श्रीराधाजीका रूप है। रस-साम्राज्यमें प्रेमका विकास होते-होते 'महाभाव' तक पहुँचना होता है। उसके आठ स्तर माने गये हैं—प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव। विषयी लोगोंके मनमें निज-सुखकी नित्य कामना रहती है। वे दूसरोंके साथ जो सद्भाव, सद्व्यवहार, त्याग, संयम आदि करते हैं, सब इस सुख-

कामनाको लेकर ही करते हैं। अतएव वहाँ वास्तविक पवित्र त्यागका सर्वथा अभाव है, इसलिये वह प्रेम नहीं है। वह तो काम है, जो प्रेम-साम्राज्यमें सर्वथा हेय तथा त्याज्य है।

संसारमें इस समय ऐसे बहुत तामसभावसे समावृत मूढ़ नराधम मनुष्य हैं, जो अपना अनिष्ट करके भी दूसरोंका अनिष्ट करते हैं। वे कहा करते हैं—'हमारा चाहे जितना नुकसान हो जाय, पर उनका नाश करके छोड़ेंगे।' परंतु विषयासक्त तथा विषयकामी पुरुष ऐसा नहीं करते। वे अपना अनिष्ट करके दूसरोंका अनिष्ट करना नहीं चाहते, पर अपने लाभके लिये, अपने सुख-स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरोंके हितोंका नाश करके उन्हें दुःख पहुँचाया करते हैं। यद्यपि उनको परिणाममें लाभ नहीं होता; क्योंकि जिस कार्यसे दूसरोंका अनिष्ट होता है, वह पापकार्य है और पाप सदा ही दुःखपरिणामी होता है। यह पशुभाव है। जैसे पशु प्रायः न तो दूसरेके दुःख-कष्टकी अनुभूति करता है और न किसीके द्वारा उपकार प्राप्त होनेपर उसके प्रति कृतज्ञताकी ही वृत्ति रखता है, इसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य प्रायः अपने ही स्वार्थ और सुख-लाभकी बात सोचता है। दूसरे जीवोंके भी हृदय हैं, प्राण हैं, उन्हें भी सुख-दुःख होता है, इसकी ओर वह ध्यान नहीं देता। यही असुरभाव भी है। जहाँ मानवता जाग्रत् होती है, वहाँ ऐसा नहीं हुआ करता। इसीसे मनुष्यके लिये तीन ऋण या पाँच ऋण चुकानेके लिये त्यागका विधान है। त्यागवृत्तिसे ही मानवताका विकास होता है। अतः जो मनुष्य कुछ विवेकशील होता है, वह विषयकामी अविवेकी मनुष्यकी भाँति दूसरोंके अनिष्टके द्वारा अपना लाभ नहीं करना चाहता, पर वह अपने लाभमें यदि दूसरे किसीका अनिष्ट होता हो तो उसकी परवा नहीं करता। उससे आगे बढ़ा हुआ मनुष्य यह देखता है कि मुझे जिसमें लाभ होता है, इससे किसी दूसरेका अनिष्ट

या हानि तो नहीं होती। यदि दूसरेका अनिष्ट होता है तो वह अपने लाभके लिये उस कार्यको नहीं करता। इससे आगे बढ़ा हुआ वह है जो अपने लाभका भी वही काम करता है, जिससे दूसरोंको भी लाभ होता है, इससे आगे चलकर बुद्धिमान् साधुहृदय मनुष्य वही काम करता है, जिससे केवल दूसरोंका लाभ होता हो। अपने लाभकी बात ही नहीं सोचता। इससे आगे बढ़ा हुआ सर्वश्रेष्ठ मनुष्य वह है, जो अपनी हानि करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाता है। यद्यपि परिणाममें उसकी हानि होती नहीं, क्योंकि जिसमें दूसरोंका हित होता है वह पुण्यकर्म है और पुण्यकर्म परिणाममें सदा ही लाभप्रद होता है, यह निश्चित है । यों छः प्रकारके मनुष्य होते हैं, जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं—

(१) अपना अनिष्ट करके भी दूसरोंका अनिष्ट करते हैं। वे महापापी हैं।

(२) अपना लाभ चाहते हैं, दूसरोंके अनिष्टकी परवा नहीं करते।

(३)अपने लाभके लिये भी ऐसा काम नहीं करते; जिससे दूसरोंका अनिष्ट होता हो।

(४) अपने लाभके लिये ऐसा ही काम करते हैं जिससे दूसरोंको भी लाभ हो।

(५) दूसरोंके लाभका ही काम करते हैं। अपने लाभकी बात नहीं सोचते।

(६) अपना अनिष्ट करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाते हैं। ये सर्वश्रेष्ठ साधु हैं।

इनमें उत्तरोत्तर अशुभ कामनाका नाश तथा शुभ कामनाका विकास होता है। यही प्रेमके विकासका क्रम है। 'निज-सुख-साधन' की वृत्ति—'काम' है और 'पर-सुख-साधन' की वृत्ति—'प्रेम' है। काममें 'स्व' संकुचित है, अतएव उसमें त्यागका अभाव है। प्रेममें 'स्व'

अत्यन्त विस्तृत है, अतएव वह त्यागमय है। आज जगत्में जो व्यष्टि तथा समष्टिमें सर्वत्र कलहकी आग भड़क रही है, इसका प्रधान कारण 'स्व-सुख-कामनाका विस्तार' तथा 'पर-सुख-कामनाका अभाव' है। आजका जगत् कामविषकलुषित है, प्रेम-पीयूष-परिभावित नहीं है। मधुर भक्तिभावके सर्वप्रथम 'शान्तभाव' में ही काम-कलुषका अभाव हो जाता है। तदनन्तर आगे बढ़कर इसका विकास होते-होते जब सर्वत्यागमय सर्वात्मनिवेदनपूर्ण मधुरभावका प्रादुर्भाव होता है, तब तो स्व-सुख-कामनाकी कल्पनाका लेश गन्ध भी नहीं रहता, केवल 'प्रियतमसुखमय जीवन' होता है। यही यथार्थ प्रेम है।

इस प्रेम-विकासके उपर्युक्त आठ स्तर हैं—

विषयभोगोंके त्यागी भगवज्जनके मनमें शुद्ध सात्त्विकी प्रियतम श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी जिस पवित्र अनुपम अनन्य वृत्तिका उदय होता है, वह प्रेम है।

वह प्रेम अपने विषय (प्रियतम श्रीकृष्ण) को पाकर जब चित्तको द्रवित कर देता है; तब प्रेमीजनके उस धनको 'स्नेह' कहा जाता है। दीपक जब घृतसे भरा होता है, तब उसमें जैसे उष्णता और ज्योति बढ़ती है, वैसे ही स्नेहके उदयसे हृदयमें श्रीकृष्णदर्शनकी पवित्र लालसा बढ़ती है।

जिसमें सर्वथा नवीन अत्यन्त माधुर्यका अनुभव होता है, स्नेहके इस प्रकारके उत्कर्षको 'मान' कहते हैं। श्रीकृष्ण प्रियतमको अधिक सुख देनेके लिये हृदयके भावको छिपाकर, जिसमें वक्रता और वामताका उदय होता है, मनकी उस मधुर स्थितिका नाम 'मान' है।

ममताकी अत्यन्त वृद्धिसे जब मान उत्कर्षको प्राप्त होता है, तब प्रियतमसे अभिन्नता बढ़ जाती है और हृदयमें महान् हर्ष छा जाता है। इस अवस्थामें प्राण, मन, बुद्धि, शरीर, खान-पान तथा वस्त्राभूषण

आदि सभीमें प्रियतमसे कुछ भी पृथक्ता नहीं रह जाती, तब उसको 'प्रणय' कहते हैं। प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलनेकी आशामें जब दुःख भी परम सुख हो जाता है और अमिलनमें सभी सुख अपार दुःखमय प्रतीत होते हैं, यों 'प्रणय' जब उत्कर्षको प्राप्तकर इस स्थितिपर पहुँच जाता है, तब उस पावन प्रेमका नाम 'राग' होता है।

जब नित्य अनुभूत प्रियतम श्रीकृष्ण प्रतिपल नये-से-नये दिखायी देते हैं, प्रतिपल वे अधिक-अधिक अत्यन्त महान्, अनुपम, पवित्र, सरल, सुन्दर और मधुर दिखायी देते हैं, राग जब उत्कर्षको प्राप्त होकर सीमातीत रूपसे बढ़ जाता है, तब जो ऐसे लक्षण प्रकट होते हैं, वे 'अनुराग' के नामसे कहे जाते हैं।

जब प्राणत्यागसे भी अधिक अत्यन्त घोर तथा कठिन दुःख सर्वथा तुच्छ हो जाता है, वरं प्रियतम श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये जब वह परम मधुर तथा परम सुखमय एवं नित्य वांछनीय हो जाता है और श्रीकृष्णमिलन एवं एकमात्र उनके सुखके लिये मनमें अपरिमित चाव बढ़ जाता है, तब वह बढ़ा हुआ 'अनुराग' ही मंगलमय मधुरतामय 'भाव' नाम धारण करता है।

यह भाव जब उच्च स्तरपर पहुँच जाता है, तब उस परम मधुरतम, परम निर्मल, परम विशुद्ध, सर्वदिक्-पवित्र 'भाव' को 'महाभाव' कहते हैं। इस महाभावके परमोज्ज्वल, नितान्त पवित्र, निर्मल दिव्य स्वर्गसदृश 'मोदन' और 'मादन' दो सर्वोच्च स्तर हैं, जो प्रेमके पूर्ण प्राकट्यका परिचय देते हैं। इनमें 'मादन' नामक 'महाभाव' परम दुर्लभ तथा स्वाभाविक ही स्वतन्त्र है। इसका प्रकाश केवल श्रीराधाजीमें ही है। स्नेहसे मोदनतक सभी स्तर श्रीकृष्णमें तथा समस्त व्रजांगनाओंमें—मधुरभावमयी रागात्मिका प्रीतिसे संयुक्त—गोपरमणियोंमें हैं। व्रजसुन्दरियाँ इन्हीं विभिन्न स्तरोंके प्रेमसे श्रीकृष्ण-सुखार्थ, जो श्रीकृष्णकी नित्य-

अति चटुलतरं तं काननान्तर्मिलन्तं
व्रजनृपतिकुमारं वीक्ष्य शङ्काकुलाक्षी।
मधुरमृदुवचोभिः संस्तुता नेत्रभंग्या
स्नपयति निजदास्ये राधिका मां कदा नु॥

श्रीराधा-प्राकट्य-महोत्सवके सुअवसरपर आज श्रीराधारानी तथा उनके अभिन्नस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप, तत्त्व, महत्त्व, प्रेम तथा प्रेमके स्वरूपका स्मरण करके उनसे विनीत प्रार्थना करना है कि वे हमारे हृदयोंमें विशुद्ध प्रेमकी पिपासाका उदय करें और अनुग्रहपूर्वक प्रेमदान करके कृतार्थ करें। अब पहले मूल परिपूर्णतम परात्पर-तत्त्वका स्मरण किया जा रहा है।

(१)

परिपूर्णतम 'रस' ब्रह्मस्वरूप

सृष्टिके पूर्व सर्वकारण-कारण परात्पर तत्त्व 'भाव' परिरम्भित 'रस'-रूपमें विद्यमान था। उसी 'भाव'-'रस'-रूप मूल तत्त्वसे आनन्दधारा निकलकर विश्वमें विविध आनन्द-वैचित्र्यके रूपमें विकसित हुई। यह परात्पर तत्त्व ही समस्त भावों तथा रसोंका मूल है। यही एक महाभावपरिरम्भित 'रसराज' श्रीराधा-मुख्या अनन्त गोपांगनाओंसे परिवेष्टित अनन्त परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण परिपूर्ण परात्पर तत्त्व हैं। **'सर्वरसः'** के नामसे इन अखिलरसामृतमूर्ति रसराज-स्वरूपका ही निर्देश होता है। स्मरण रखना चाहिये कि 'भाव' के बिना 'रस' नहीं है, 'रस' के बिना 'भाव' नहीं है और 'रस' तथा 'भाव' के बिना 'आनन्द' नहीं है।

महाभावरूपी श्रीराधा अमूर्तरूपमें नित्य रसराज श्रीकृष्णसे परिरम्भित हैं। शक्ति नित्य-निरन्तर शक्तिमान्‌में निहित है और वही महाभाव

श्रीराधाके मूर्तरूपमें 'मादन' महाभाव-रूप परिपूर्ण प्रेमका स्वरूप धारण किये अपनी कायव्यूहरूपा सेवोपकरणस्थानीया व्रजसुन्दरियोंके साथ प्रेष्ठतम श्रीकृष्णकी केवल श्रीकृष्णसुखतात्पर्यमयी साक्षात् सेवारूप बना हुआ नित्य-निरन्तर सेवामें संलग्न है। प्रियतमके सुखेच्छानुसार वियोग-संयोग—दोनोंमें सुखमय सेवा संयोगका अनुभव करती हुई श्रीराधा सेवामय बनी रहती हैं।

इन परात्पर-तत्त्व भगवान्‌को श्रुतियोंने 'अन्न', 'प्राण', 'मन', 'विज्ञान' (तैत्तिरीय० ३। २—५) आदि नाम देकर अन्तमें 'विज्ञान' नामसे व्यक्त किया (तैत्तिरीय० ३। ५)। इसमें भी जब कमी प्रतीत हुई, तब **'आनन्द'** नामसे निर्देश किया।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

(तैत्तिरीय० ३। ६)

'आनन्द ही ब्रह्म है, इस प्रकार जाना। आनन्दस्वरूपसे ही ये सब भूतप्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्दके द्वारा ही जीवन धारण करते हैं और अन्तमें उस आनन्दमें प्रविष्ट हो जाते हैं।'

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

(तैत्तिरीय० २। ९)

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्तिरीय० ३। ६)

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृहदारण्यक० ३। ९। २८)

—इस प्रकार जगह-जगह श्रुतियोंमें ब्रह्मको 'आनन्द' रूप बतलाया है और कहा है कि 'ब्रह्मके आनन्दस्वरूपको जाननेपर कभी भी भयग्रस्त नहीं होना पड़ता।' पर श्रुतिने इससे भी विशेष एक रहस्यका तत्त्व और बतलाया है। कहा है—

करोड़ों साँप-बिच्छू आदिके द्वारा डँसे जानेका तथा नरकादिका घोर कष्ट भी लेशमात्र दुःख नहीं है— यह अनुभव होता है, उस अवस्थाको 'अधिरूढ़ महाभाव' कहते हैं। यह अधिरूढ़ महाभाव भी 'मोदन' तथा 'मादन' रूपमें दो प्रकारका है। मोदन महाभाव केवल श्रीराधायूथमें ही सम्भव है। इसीको विरह-दशामें 'मोहन' कहा जाता है।

इस मोदन महाभावसे भी अत्यन्त उत्कृष्ट है— ह्लादिनी महाशक्तिका स्थिरांश 'मादन' नामक महाभाव, जो केवल श्रीराधारानीमें ही नित्य विराजित है—

सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा॥

(उज्ज्वलनीलमणि १४। २१९)

'प्रेमकी जिस अवस्थामें सब प्रकारके भावोंका पूर्ण विकास होता है और जो स्वरूपाशक्ति ह्लादिनीका सर्वोत्तम एकमात्र सार है, वह परात्पर 'मादन' नामक महाभाव एकमात्र श्रीराधामें ही सदा-सर्वदा प्रकट रहता है'—

रागात्मिका भक्ति

रागात्मिका भक्तिके दो प्रकार हैं—'सम्बन्धरूपा' और 'कामरूपा'। जिस रागात्मिकामें पिता-माता-बन्धु-स्वामी आदि कोई सम्बन्ध कृष्णसेवामें कारण और नियामक है—उसे 'सम्बन्धरूपा' कहते हैं और नित्यसिद्ध रागवश जो कृष्णसुखतात्पर्यमयी सेवाकी कामनामें तन्मय होकर सर्वनिरपेक्ष भावसे, किसी भी सम्बन्धकी अपेक्षा न रखकर सेवा करते हैं, उनकी रागात्मिका भक्तिको 'कामरूपा' कहते हैं। उनकी कृष्णसेवामें प्रवर्तक केवल 'काम' ही होता है। यह काम है—केवल 'श्रीकृष्णसुखतात्पर्यमयी सेवाकी विशुद्ध वासना।' अतएव यह 'इन्द्रियसुखवासनायुक्त काम' नहीं है, यह 'त्यागमय विशुद्ध प्रेम' है। इसीलिये—

अवश्य ही वृन्दावनकी रागात्मिका भक्तिमें माधुर्यका ही साम्राज्य है; 'प्रियतममें गाढ़ तृष्णा', 'परम आविष्टता' और 'प्रियतम श्रीकृष्णकी सुखतात्पर्यमयी विशुद्ध सेवा' ही इस भक्तिके प्राण या आत्मा हैं। इसीसे इस भक्तिके धनी व्रजवासियोंके तन-मन-धन-यौवन-धर्म-ज्ञान—सभी श्रीकृष्णके प्रति सहज समर्पित हैं! उनका राग-विराग श्रीकृष्णके लिये ही है। इस भक्तिके चार स्तर हैं—'दास्य', 'सख्य', 'वात्सल्य' और 'मधुर'। 'शान्त' रस तो इन चारोंकी भित्तिभूमि है, जिसमें मन-इन्द्रिय संयमपूर्ण होकर दास्य भक्तिकी योग्यता प्राप्त होती है। इनमें सर्वापेक्षा श्रेष्ठ, सर्वशिरोमणि भक्ति है मधुर और उस मधुर भक्तिका भी स्वसुख-वासनासे सर्वथा शून्य पूर्ण विकास केवल व्रजसुन्दरियोंमें है।

भगवान् प्रेमसेवाके ऋणी

इस प्रेमसेवाका बदला चुकानेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ समझकर चिरऋणी मानते हुए श्रीकृष्ण अपनी परम प्रेयसी श्रीगोपांगनाओंसे कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

'गोपांगनाओ! तुमने मेरे लिये घर-गृहस्थीकी उन बेड़ियोंको तोड़ दिया, जिन्हें बड़े-बड़े योगी-यति भी नहीं तोड़ पाते। मुझसे तुम्हारा यह मिलन, यह आत्मिक संयोग सर्वथा निर्मल और सर्वथा निर्दोष है। यदि मैं अमर शरीरसे—अमर जीवनसे अनन्तकालतक तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्यागका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं जन्म-

नवोत्साहपूर्वक सहज सेवा—उपासना करती हैं, श्रीराधाजी उनमें मुख्य तथा सर्वप्रधान श्रीकृष्णसेविका या श्रीकृष्णाराधिका हैं। अतएव श्रीकृष्ण इस प्रेमके 'विषय' हैं। साथ ही इस प्रेमके समस्त स्तर श्रीकृष्णमें भी हैं। अतएव वे इस प्रेमके 'आश्रय' भी हैं अर्थात् वे भी व्रजसुन्दरियोंको सुख पहुँचाना चाहते हैं। गोपरमणियोंमें श्रीराधा 'मादनाख्य महाभाव' रूपा हैं। इसलिये वे परम आश्रयरूपा हैं और वे श्रीकृष्णको सुखी देखकर उससे अनन्तगुना सुख लाभ करती हैं। श्रीराधाजीके इस सुखकी स्थितिपर विचार करके श्रीकृष्ण इस प्रेमके आश्रय बनते हैं और वे नित्य श्रीराधाको आराध्या मानकर उनकी सेवा-उपासना करके उन्हें सुख पहुँचाना चाहते हैं। यह उनका परस्पर आश्रय-विषय-सम्बन्ध नित्य है। यही प्रेमका वह सर्वोच्च स्तर है, जहाँतक मानव-बुद्धि अनुमान लगा सकती है। यों तो वास्तविक प्रेम उत्तरोत्तर प्रतिक्षण वर्धनशील है और वह सर्वथा अनिर्वचनीय ही नहीं, अचिन्त्य भी है। इस प्रेमके मूर्तिमान् दिव्य चिन्मय विग्रह श्रीराधा-कृष्णयुगल हैं। यही इनका युगल-स्वरूप है। प्रेमी साधक इन्हीं श्रीराधा-माधवयुगलकी उपासना किया करते हैं।

साधक अपनी रुचि तथा स्थितिके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णके या श्रीराधाके एक रूपकी भी उपासना कर सकते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण और श्रीराधा नित्य एक हैं और वे एक-दूसरेमें सदा समाये हुए हैं; अतएव एककी उपासनासे दोनोंकी उपासना हो जाती है। तथापि साधक चाहें तो एक साथ 'युगल-स्वरूप' की उपासना कर सकते हैं। पर स्मरण रखना चाहिये कि युगल-स्वरूपकी उपासना साधक अपनी-अपनी रुचिके अनुसार श्रीलक्ष्मीनारायण, श्रीगौरीशंकर, श्रीसीताराम, श्रीराधामाधव आदि किसी भी युगलस्वरूपकी कर सकते हैं। भगवान् तथा भगवती-जैसे शक्तिमान् तथा शक्तिके रूपमें सदा

एक हैं, वैसे ही भगवान्‌के सभी लीलारूप तथा भगवतीके सभी लीलारूप भी एक ही परमतत्त्वके विभिन्नस्वरूप हैं।

श्रीराधा-माधव दोनों मंगलस्वरूपोंके पृथक्-पृथक् विग्रहकी चित्रपट, मूर्ति अथवा मानस— किसी भी रूपमें उपासना की जा सकती है। पर उसमें श्रीराधा-माधवकी धारणात्मक मूर्तियाँ अनन्य असमोर्ध्व सौन्दर्य-माधुर्यमयी होनी चाहिये। श्रीराधा-माधव अनन्त दिव्य रस-समुद्र हैं।

कोटि-कोटि शत मदन-रति सहज विनिन्दक रूप।
श्रीराधा-माधव अतुल शुचि सौन्दर्य अनूप॥
मुनि-मन-मोहन, विश्वजन-मोहन मधुर अपार।
अनिर्वाच्य, मोहन-स्वमन, चिन्मय सुख रस-सार॥
शक्ति, भूति, लावण्य शुचि, रस, माधुर्य अनन्त।
चिदानन्द-सौन्दर्य-रस-सुधा-सिन्धु, श्रीमन्त॥

श्रीमाधव नित्य निरुपम निरुपाधि चिन्मय नीलकान्तिमय परमोज्ज्वल मरकतमणि हैं और श्रीराधा नित्य निरुपम निरुपाधि चिन्मय स्वर्णकेतकी-सुमन हैं। दोनों ही अपने-अपने सौन्दर्य-माधुरीसे परस्पर नित्य आकर्षणशील हैं। दोनों ही दोनोंके गुणोंपर नित्यमुग्ध हैं। एक ही परमतत्त्व दो रूपोंमें अपने-अपने अन्तरके मधुरतम भावोंसे एक-दूसरेके प्रति लोलुप होकर निरुपम निरुपाधि अनिर्वचनीय सुषमासे सम्पन्न और परस्परके मधुरतम सुखविधानमें संलग्न हैं।

इन श्रीराधा-माधवके सर्वविध सात्त्विक शृंगारयुक्त दिव्य चिन्मय युगल-विग्रहकी उपासना साधक अपने-अपने भावानुसार कर सकते हैं।

युगल-स्वरूपके उपासकोंको उपासनासे पूर्व गौण रूपसे कायिक, वाचिक, मानस—तीन व्रतोंसे युक्त होना चाहिये।

एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्।
इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर॥

वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम्।
अपैशुन्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्पता।
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये॥

देवर्षि नारदजीने राजा अम्बरीषसे कहा है—

'राजन्! दिनभरमें एक बार अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसे खा लेना और रातको उपवास करना—(अर्थात् जीभको वशमें रखना) यह 'कायिक व्रत' कहलाता है। वेदका (वेदमूलक शास्त्रोंका, संत-वाक्योंका) अध्ययन, भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन-कथन, सत्य (अनुद्वेगकारक, प्रिय-मधुर और हितकारक) भाषण और किसीकी भी निन्दा-चुगली न करना—यह 'वाचिक व्रत' कहलाता है और अहिंसा (किसीका भी अनिष्ट-चिन्तनतक न करना) किसीकी वस्तुपर मन न चलाना, मनसे ब्रह्मचर्यका पालन करना तथा कपट, दम्भ न करना 'मानसव्रत' है।'

साधकको शरीरसे या मनसे ही श्रीराधा-माधव-तत्त्वके ज्ञाता प्रेमस्वरूप सद्‌गुरुकी सेवामें रहकर उनसे दीक्षा लेनी चाहिये। कान फूँकनेवाले तथा मान, द्रव्यादिकी आशासे गुरु-पदका ग्रहण करनेवाले यथार्थ गुरु नहीं होते। यहाँ श्रीकृष्ण-प्रेममय पुरुष ही गुरु हैं। उनके संक्षेपमें ये लक्षण हैं—

शान्तो विमत्सरः कृष्णे भक्तोऽनन्यप्रयोजनः।
अनन्यसाधनो धीमान् कामक्रोधविवर्जितः॥
श्रीकृष्णरसतत्त्वज्ञः कृष्णमन्त्रविदांवरः।
कृष्णमन्त्राश्रयो नित्यं लोभहीनः सदा शुचिः॥
सद्धर्मशासको नित्यं सदाचारनियोजकः।
सम्प्रदायी कृपापूर्णो विरागी गुरुरुच्यते॥

'गुरु उन्हें कहते हैं, जो शान्त (चित्त) हों, किसीसे डाह न करते हों, श्रीकृष्णके भक्त हों, श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णके सिवा जिनको दूसरा कोई भी प्रयोजन न हो, काम-क्रोधसे सर्वथा रहित हों, श्रीकृष्णके रस-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले हों, श्रीकृष्णके मन्त्र जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हों, श्रीकृष्णके मन्त्रका ही सदा आश्रय रखते हों, लोभसे सर्वथा रहित हों, अंदर और बाहरसे, मनमें तथा व्यवहारमें पवित्र हों, सच्चे धर्मका उपदेश करनेवाले हों, सदाचारमें लगानेवाले हों, श्रीराधामाधव-तत्त्व जाननेवाले सम्प्रदायमें हों और जिनका हृदय कृपासे पूर्ण हो एवं जो भुक्ति-मुक्ति दोनोंमें ही राग न रखते हों।'

साधकको कृतज्ञता, निरभिमानिता, नियमानुवर्तिता, विनय, सरलता, श्रद्धा और सेवा आदि गुणोंसे युक्त होकर गुरुदेवसे रहस्य जानना तथा तदनुसार आचरण करना चाहिये। शास्त्रोंमें कहा गया है कि 'गुरुदेव ऐसे साधकको ही यह परम रहस्यमय विषय बतलावें जो श्रीकृष्णका अनन्य भक्त हो और दम्भ, लोभ, काम-क्रोधसे सर्वथा रहित हो'—

श्रीकृष्णेऽनन्यभक्ताय दम्भलोभविवर्जिने।
कामक्रोधविमुक्ताय देयमेतत् प्रयत्नतः॥

साधकको तन-मन-वचनका संयम रखते हुए चातककी एक निष्ठाकी भाँति श्रीराधामाधव-युगलका ही अनन्य आश्रय रखना और उन्हींसे प्रेमयाचना करनी चाहिये। तथा—

सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथा पतिपरायणा।
प्रियानुरागिणी दीना तस्य संगैककाङ्क्षिणी॥
तद्गुणान् भावयेन्नित्यं गायत्यभिशृणोति च।
श्रीकृष्णगुणलीलादेः स्मरणादि तथाऽऽचरेत्॥

'जैसे बहुत समयसे विदेश गये हुए पतिकी पतिपरायणा स्त्री केवल

वृन्दावनकी कल्पना करे। तदनन्तर निम्नलिखित रूपमें श्रीराधामाधवका स्मरण तथा ध्यान करे—

गोविन्दका ध्यान

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं वर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्सांकमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसंगावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्यांगभूषं भजे॥

'प्रफुल्ल नीलकमलके समान जिनकी श्याम मनोहर कान्ति है, मुखमण्डली चारुता चन्द्रबिम्बको भी विलज्जित करती है, मोरपंखका मुकुट जिन्हें अधिक प्रिय है, जिनका वक्ष स्वर्णमयी श्रीवत्सरेखासे समलंकृत है, जो अत्यन्त तेजस्विनी कौस्तुभमणि धारण करते हैं और रेशमी पीताम्बर पहने हुए हैं, गोपसुन्दरियोंके नयनारविन्द जिनके श्रीअंगोंकी सतत अर्चना करते हैं, गौओं तथा गोपकिशोरोंके संघ जिन्हें घेरकर खड़े हैं तथा जो दिव्य अंगभूषासे विभूषित हो मधुरातिमधुर वेणुवादनमें संलग्न हैं, उन परम सुन्दर गोविन्दका मैं भजन करता हूँ।'

श्रीराधाका ध्यान

हेमाभां द्विभुजं वराभयकरां नीलाम्बरेणादृतां
श्यामक्रोडविलासिनीं भगवतीं सिन्दूरपुञ्जोज्ज्वलाम्।
लीलाक्षीं नवयौवनां स्मितमुखीं बिम्बाधरां राधिकां
नित्यानन्दमयीं विलासनिलयां दिव्यांगभूषां भजे॥

'जिनके गोरे-गोरे अंगोंकी हेममयी आभा है, जो दो ही भुजाओंसे युक्त हैं और दोनों हाथोंमें क्रमशः वर एवं अभयकी मुद्रा धारण करती हैं, नीले रंगकी रेशमी साड़ी जिनके श्रीअंगोंका आवरण बनी हुई है, जो

उस पतिपर ही प्रेम करती हुई तथा एकमात्र उसीके संगकी आकांक्षा करती हुई, दीन होकर, सदा पतिके गुणोंका स्मरण करती है, पतिके ही गुणोंको गाती-सुनती है, वैसे ही अधिकारी साधकको एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णमें आसक्त होकर उनके गुणों और लीलाओंको सुनना, गाना और स्मरण करना चाहिये।'

साधकको सर्वथा 'कामविजयी' होना चाहिये। कामी मनुष्य दिव्य श्रीराधामाधव-युगलकी मधुर उपासनाका कदापि अधिकारी नहीं है। साथ ही, उसे दम्भ, द्रोह, द्वेष, कामना, लोभ तथा विषयासक्ति—इन छः दोषोंसे सर्वथा मुक्त होना चाहिये। असत्संग (धन, स्त्री, मान, विषय-वासना बढ़ानेवाले दृश्य, साहित्य, पदार्थ, व्यक्ति एवं वातावरण तथा इनके संगियों) का परित्याग, इन्द्रियसुखकी वासनाका त्याग, जनसंसर्गमें अरति, श्रीकृष्णके नाम-गुण-चरित्र-लीलादिके अतिरिक्त अन्य किसी भी विषयके श्रवण-कथन-मननसे चित्तकी सर्वथा विरक्ति तथा उपरति और निजसुख (इहलोक-परलोकके समस्त भोग तथा मोक्ष) की इच्छाका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

इस प्रकार करनेवाला श्रद्धालु साधक ही श्रीराधामाधव-युगलकी उपासनाका और उनके प्रेमका अधिकारी है।

अब यहाँ श्रीराधामाधव-युगलकी पूजाकी संक्षिप्त विधि लिखी जाती है। मानस या श्रीविग्रहकी स्थापना कर साधक पूजा कर सकते हैं।

श्रीवृन्दावनमें यमुनाके तीरपर अनेक प्रकारके वृक्ष-लताओंका एक बृहत् वनकुंज है। भाँति-भाँतिके पुष्प खिले हुए हैं और उनपर मधुपान-मत्त भ्रमरोंके समुदाय गुंजार कर रहे हैं। यमुनाजीमें वायुके झोंकोंसे सुन्दर मन्द-मन्द तरंगें नाच रही हैं। भाँति-भाँतिके कमल खिल रहे हैं। वहीं श्रीराधामाधव एक कदम्ब-वृक्षके नीचे विराजित हैं। श्रीकृष्णके वामपार्श्वमें श्रीराधिकाजी हैं। इस प्रकार ध्यान करके

श्यामसुन्दरके अंकमें विलास करती हैं, सीमन्तगत सिन्दूरपुंजसे जिनकी सौन्दर्य-श्री और भी उद्भासित हो उठी है, चपल नयन, नित्य नूतन यौवन, मुखपर मन्दहासकी छटा तथा बिम्बफलकी अरुणिमाको भी तिरस्कृत करनेवाला अधर-राग जिनका अनन्याधारण वैशिष्ट्य है, जो नित्य आनन्दमयी तथा विलासकी आवासभूमि है, जिनके अंगोंके आभूषण दिव्य (अलौकिक) हैं, उन भगवती श्रीराधिकाका मैं चिन्तन करता हूँ।'

तत्पश्चात् मन-ही-मन श्रीराधामाधवका आवाहन करके निम्नलिखित श्लोकोंसे श्रीराधामाधवको प्रणाम करे—

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तु ते॥
तप्तकाञ्चनगौरांगि राधे वृन्दावनेश्वरि।
वृषभानुसुते देवि त्वां नमामि हरिप्रिये॥

तदनन्तर श्रीराधामाधवके चरणोंका विशुद्ध प्रेम प्राप्त करनेके उद्देश्यसे पूजनका संकल्प करे और पूजा आरम्भ कर दे—

आसन—

'इदमासनं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः
श्रीकृष्ण! प्रभो! इदमासनं सुखमास्यताम्।
इदमासनं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः
श्रीराधे! भगवति! इदमासनं सुखमास्यताम्।'

इस मन्त्रके द्वारा सुमनोहर आसन प्रदान करे। अभावमें पुष्प अर्पण करे। स्वागत—निम्नलिखित वाक्यके द्वारा सादर अभ्यर्थना करके कुशलप्रश्न करे—

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः सर्वार्थसिद्धये।
तस्य ते परमेशान! सुस्वागतमिदं वपुः॥
भो भगवन्! श्रीकृष्ण! स्वागतं सुस्वागतम्।
हे श्रीकृष्ण! प्रभो! स्वागतं करोषि॥

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः सर्वार्थसिद्धये।
तस्य ते राधिके देवि ! सुस्वागतमिदं वपुः॥
भो भगवति श्रीराधिके ! स्वागतं सुस्वागतम्।
हे राधिके! परमेश्वरि ! स्वागतं करोषि॥

पाद्य—किसी चाँदी, ताम्र या पीतलके पात्रमें चन्दनसहित पुष्प और तुलसीदल डालकर जल भर ले और—'**एतत् पाद्यं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।**'—कहकर श्रीकृष्णके चरणोंमें जल अर्पण करे। इसी प्रकार—'**एतत् पाद्यं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।**'—बोलकर श्रीराधाके चरणोंमें जल अर्पण करे।

अर्घ्य—शंखमें जल लेकर—'**इदमर्घ्यं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।**' बोलकर श्रीकृष्णके मस्तकपर अर्घ्यजल प्रदान करे। '**इदमर्घ्यं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।**'—बोलकर श्रीराधाके मस्तकपर अर्घ्यजल अर्पण करे।

आचमनीय—दूसरे पात्रमें जल लेकर—'**इदमाचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।**'—बोलकर श्रीकृष्णके हाथोंमें आचमनीयजल अर्पण करे। '**इदमाचमनीयं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।**'—कहकर श्रीराधाके हाथोंमें आचमनीयजल अर्पण करे।

मधुपर्क—काँसी अथवा चाँदीके पात्रमें (ताँबेका पात्र न हो) मधुपर्क (मधु, घृत, शर्करा, दधि और जल—अभावमें पुष्प, तुलसी और जल) लेकर '**इदं मधुपर्कं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।**'—कहकर मधुपर्क-सामग्रीको श्रीकृष्णके मुखमें अर्पण करे। '**इदं मधुपर्कं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।**'—कहकर मधुपर्क-सामग्रीको श्रीराधाके मुखमें अर्पण करे।

पुनराचमनीय—एक पात्रमें जल लेकर '**इदं पुनराचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।**'—बोलकर श्रीकृष्णके मुखमें अर्पण करे। इसी

प्रकार **'इदं पुनराचमनीयं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'**—बोलकर श्रीराधाके मुखमें अर्पण करे।

स्नान—किसी शुद्ध ताम्रपात्र या शंखमें कर्पूर, चन्दन, सुवासित शुद्ध जल लेकर—

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धुकावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु॥

यह मन्त्र बोलकर जलपर अंकुशमुद्रा दिखाकर तीर्थोंका आवाहन करे। तदनन्तर—

वृन्दावनविहारेण श्रान्तिं विश्रान्तिकारकम्।
चन्द्रपुष्करपानीयं गृहाण पुरुषोत्तम॥

—बोलकर श्रीकृष्णको स्नान करावे—इसी प्रकार श्रीराधाको स्नान करावे।

वस्त्र—**'इदं परिधेयवस्त्रम् इदमुत्तरीयवासश्च श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'** यह मन्त्र बोलकर बहुत बढ़िया महीन पीला वस्त्र तथा उत्तरीय वस्त्र भगवान्‌को पहना दे। इसी प्रकार—**'इदं परिधेयवस्त्रं कञ्चुकीम् उत्तरीयवासश्च श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'** यह मन्त्र बोलकर बढ़िया नीले रंगकी साड़ी कंचुकी और किनारीदार ओढ़नी श्रीराधिकाजीके अर्पण करे।

भूषण—**'इमानि भूषणानि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'**—बोलकर रत्न-स्वर्ण आदि निर्मित अलंकार (हार, मुकुटमणि, कड़े आदि गहने) भगवान्‌को पहना दे।

इसी प्रकार—**'इमानि भूषणानि श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'**—बोलकर राजरानियोंके पहननेयोग्य रत्न-स्वर्णादिके गहने श्रीराधाके अर्पण करे।

गन्ध—केसर-कर्पूर-मिश्रित चन्दन लेकर **'इमं गन्धं श्रीकृष्णाय**

निवेदयामि नमः।'— कहकर चन्दनको श्रीकृष्णके श्रीअंगोंपर लेपन करे या उन्हें अर्पण करे। **'इमं गन्धं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'**— कहकर चन्दनको श्रीराधाके श्रीअंगोंपर लेपन करे या उन्हें अर्पण करे।

पुष्प—सुगन्धित नाना प्रकारके पुष्प लेकर **'इमानि पुष्पाणि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'**—बोलकर श्रीकृष्णके श्रीचरणोंपर अर्पण करे। **'इमानि पुष्पाणि श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'**— बोलकर पुष्प श्रीराधाके श्रीचरणोंपर अर्पण करे।

तुलसीदल—इसके अनन्तर चन्दनसहित तुलसीदल लेकर **'इदं सचन्दनं तुलसीदलं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'**—कहकर श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें आठ बार अर्पण करे।

श्रीराधाजीके तुलसीदल अर्पण नहीं किया जाता।

तदनन्तर श्रीकृष्णके आठ नामोंका उच्चारण करते हुए आठ पुष्पांजलियाँ श्रीकृष्णको अर्पण करे—

श्रीकृष्णाय नमः। श्रीवासुदेवाय नमः। श्रीनारायणाय नमः। श्रीदेवकीनन्दनाय नमः। श्रीयदुश्रेष्ठाय नमः। श्रीवार्ष्णेयाय नमः। श्रीअसुराक्रान्तभूभारहारिणे नमः। श्रीधर्मसंस्थापनार्थाय नमः।

श्रीराधाके आठ नामोंका उच्चारण करते हुए आठ पुष्पांजलियाँ श्रीराधाको अर्पण करे—

श्रीराधिकायै नमः। श्रीरासेश्वर्यै नमः। श्रीकृष्णकान्तायै नमः। श्रीनित्यनिकुञ्जेश्वर्यै नमः। श्रीवृषभानुसुतायै नमः। श्रीगान्धर्विकायै नमः। श्रीवृन्दावनमहेश्वर्यै नमः। श्रीकृष्णप्राणाधिकादेव्यै नमः।

धूप—पीतल या चाँदीकी धूपदानीमें धूप रखकर **'इमं धूपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'**—कहकर श्रीकृष्णको धूप अर्पण करे। **'इमं धूपं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'**—कहकर श्रीराधाको धूप अर्पण करे।

दीप—गोघृत या सुगन्धित तैलके द्वारा जलाये हुए दीपकको, **'इमं दीपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'**—बोलकर बायें हाथसे घंटी बजाते हुए एवं दायें हाथमें दीपकको लेकर आरतीकी भाँति घुमाते हुए श्रीकृष्णको अर्पण कर दे। **'इमं दीपं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'**—कहकर दीपकको श्रीराधाको अर्पण कर दे।

नैवेद्य—पवित्र थाली एवं कटोरोंमें भोज्य पदार्थ सजाकर धुली हुई चौकी या पाटेपर रख दे और पीनेके लिये एक-दूसरे पात्रमें सुवासित जल भरकर रख दे। फिर **'अस्त्राय फट्'** मन्त्र बोलकर चक्रमुद्रा दिखलाते हुए नैवेद्यका संरक्षण करे। तदनन्तर किसी शुद्ध पात्रमें स्थापित जलमें **'यं'** वायु बीजका बारह बार जप करके उस जलके द्वारा नैवेद्यका प्रोक्षण करे और दाहिने हाथमें **'रं'** बीजका स्मरण करते हुए दाहिने हाथकी पीठपर बायाँ हाथ रखकर वह्निबीजका उच्चारण करे। इसके द्वारा नैवेद्यकी शुष्कताका दोष दूर होता है। फिर बायें हाथकी हथेलीपर अमृत-बीज **'ठं'** का स्मरण करके बायें हाथकी पीठपर दायाँ हाथ रखकर नैवेद्यको अमृतधारासे सिक्त करे। पीछे चन्दन और पुष्प लेकर— **'एते गन्धपुष्पे श्रीकृष्णाय नमः।'** एवं **'एते गन्धपुष्पे श्रीराधिकायै नमः।'**—बोलकर श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाको क्रमशः अर्चन करे। फिर बायें हाथसे नैवेद्यके पात्रका स्पर्श करके दाहिने हाथसे गन्ध, पुष्प और जल लेकर **'ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।'**—इस मन्त्रका उच्चारण करके **'इदं नैवेद्यं श्रीकृष्णाय कल्पयामि।' 'इदं नैवेद्यं श्रीराधिकायै कल्पयामि।'**— बोलकर जलको भूमिपर छोड़ दे। तदनन्तर प्रत्येक नैवेद्यके पात्रमें तुलसीदल रखे। फिर दोनों हाथोंद्वारा नैवेद्यपात्रको उठाकर भक्ति और दैन्यके साथ **'निवेदयामि भवते जुषाणेदं हविर्हरे।'** इस मन्त्रका उच्चारण करके दोनोंको नैवेद्य अर्पण करे। पीछे **'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा'**—बोलकर श्रीराधामाधवके हाथोंमें जल देकर बायें हाथके द्वारा 'ग्रास-मुद्रा' दिखावे।

तदनन्तर '**प्राणाय स्वाहा।**' '**अपानाय स्वाहा।**' '**व्यानाय स्वाहा।**' '**उदानाय स्वाहा।**' '**समानाय स्वाहा।**'—इन पाँचों मन्त्रोंका क्रमशः उच्चारण करके प्राणादि पाँच मुद्राएँ दिखावे।

पानीयोदक—फिर तुलसीपत्रसे सम्बन्धित सुवासित निर्मल जलसे पूर्णपात्र '**एतत् पानीयोदकं श्रीकृष्णाय निवेदयामि।**' एवं '**एतत् पानीयोदकं श्रीराधिकायै निवेदयामि।**'—बोलकर श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाको अर्पण करे। तदनन्तर नैवेद्यपर दस बार उपर्युक्त अष्टादशाक्षर मन्त्रका जप करके घंटी बजाये और पर्दा लगाकर घरसे बाहर आ जाय और १०८ बार उसी मन्त्रका जप करे तथा मन-ही-मन यह भावना करे कि श्रीराधामाधव भोजन कर रहे हैं। इसके पश्चात् भोजन-समाप्तिके बाद द्वार खोलकर या पर्दा हटाकर—

आचमन—जलके द्वारा '**इदमाचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि।**' '**इदमाचमनीयं श्रीराधिकायै निवेदयामि।**'—कहकर आचमनके लिये जल प्रदान करे।

ताम्बूल-अर्पण—इसी प्रकार '**एतत् ताम्बूलं श्रीकृष्णाय निवेदयामि।**' '**एतत् ताम्बूलं श्रीराधिकायै निवेदयामि।**'—कहकर श्रीकृष्ण-राधाको ताम्बूल अर्पण करे। बादमें माला-चन्दन आदि अर्पण करे।

आरती—आसनपर बैठकर कर्पूर मिले हुए गोघृतमें रूईकी बत्तियाँ भिगोकर पाँच दीपककी आरती बनावे और तर्जनी तथा अँगूठेसे उसे पकड़कर दाहिनी ओरसे बायीं ओर और बायीं ओरसे दाहिनी ओर तीन बार या सात बार ले जाये। गात्रमार्जनीय वस्त्र और तुलसीके द्वारा भी इसी प्रकार आरती करे।

पुष्पांजलि—फिर मूल-मन्त्रका स्मरण करते हुए दीपकपर धेनुमुद्रा दिखाकर श्रीराधामाधवको पुष्पांजलि अर्पण करे। अन्तमें तीन बार या पाँच बार शंखध्वनि करके पूजा समाप्त करे। आरतीके समय इस आरतीका गान करे—

राधामाधव-युगलकी आरती

आरति राधा-राधावर की।
महाभाव रसराज-प्रवर की॥
स्याम बरन पीताम्बरधारी।
हेम बरन तन नीली सारी।
सदा परस्पर सुखसंचारी।
नील कमल कर मुरलीधर की।
आरति राधा-राधावर की॥ १॥

चारु चन्द्रिका मन-धन-हारी।
मोर-पिच्छ सुन्दर सिरधारी।
कुंजकुँवरि नित कुंजविहारी।
अधरनि मृदु मुसकान मधुर की।
आरति राधा-राधावर की॥ २॥

प्रेम दिनेस कामतम-हारी।
रहित सुखेच्छा निज, अविकारी।
आश्रय-विषय परस्पर-चारी।
पावन परम मधुर रसधर की।
आरति राधा-राधावर की॥ ३॥

निज-जन-नेह अमित विस्तारी।
उर पावन रस-संग्रहकारी।
दिव्य सुखद, दुख-दैन्य-विदारी।
भक्त-कमल हित हिय सरबर की।
आरति राधा-राधावर की॥ ४॥

आरतीके समय मृदंग, ढोल, झाँझ, करताल आदि बजाने चाहिये।

आरती करनेके पश्चात् उपस्थित व्यक्तियोंको आरती दिखावे और आरतीके जलके छींटे उनपर डाले। तत्पश्चात् प्रसाद-वितरण करे। अन्तमें निम्नलिखित श्लोकोंके द्वारा स्तुति करे—

कातर-प्रार्थना

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे॥
यद्दत्तं भक्तिमात्रेण पत्रं पुष्पं फलं जलम्।
आवेदितं निवेदान्तं तद् गृहाणानुकम्पया॥
त्राहि मां पापिनं घोरं धर्माचारविवर्जितम्।
नमस्कारेण देवेश दुस्तराद्भवसागरात्॥
दैन्यार्णवे निमग्नोऽस्मि मन्तुग्रीवभरार्दितः।
दुष्टे कारुण्यपारीण ! मयि कृष्ण ! कृपां कुरु॥
अज्ञानादथवा ज्ञानादशुभं यन्मया कृतम्।
क्षन्तुमर्हसि तत्सर्वं दास्येनैव गृहाण माम्॥
आधारोऽप्यपराधानामविवेकहतोऽप्यहम्।
त्वत्कारूण्यप्रतीक्ष्योऽस्मि प्रसीद मयि माधव॥
युवतीनां यथा यूनि यूनां च युवती यथा।
मनोऽभिरमते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि॥
नाथ योनिसहस्त्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥
न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

श्रीराधामाधव-युगलसे कृपाभिक्षा

राधे वृन्दावनाधीशे करुणामृतवाहिनि।
कृपया निजपादाब्जे दास्यं मह्यं प्रदीयताम्॥
तवास्मि राधिकानाथ! कर्मणा मनसा गिरा।
कृष्णाकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम॥
योऽहं ममास्ति यत् किञ्चिदिह लोके परत्र च।
तत् सर्वं भवतोरद्य चरणेषु मयार्पितम्॥
संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात्।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि॥

अपराध-क्षमापन

अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया।
दासोऽयमिति मां मत्वा तत्सर्वं क्षन्तुमर्हसि॥

तदनन्तर इच्छा हो तो निम्नलिखित स्तोत्रका पाठ करे—

नवजलधरविद्युद्धौतवर्णौ प्रसन्नौ
वदननयनपद्मौ चारुचन्द्रावतंसौ।
अलकतिलकभालौ केशवेशप्रफुल्लौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ॥
नववसनहरितनीलौ चन्दनालेपनांगौ
मणिमरकतदीप्तौ स्वर्णमालाप्रयुक्तौ।
कनकवलयहस्तौ रासनाट्यप्रसक्तौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ॥

अतिमधुरसुवेषौ रंगभंगीत्रिभंगौ

मधुरमृदुलहास्यौ कुण्डलाकीर्णकर्णौ।

नटवरवररम्यौ नृत्यगीतानुरक्तौ

भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ॥

विविधगुणविदग्धौ वन्दनीयौ सुवेशौ

मणिमयमकराद्यैः शोभितांगौ स्तुवन्तौ।

स्मितनमितकटाक्षौ धर्मकर्मप्रदत्तौ

भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ॥

कनकमुकुटचूडौ पुष्पितोद्भूषितांगौ

सकलवननिविष्टौ सुन्दरानन्दपुञ्जौ।

चरणकमलदिव्यौ देवदेवादिसेव्यौ

भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ॥

अतिसुवलितगात्रौ गन्धमाल्यैर्विराजौ

कतिकतिरमणीनां सेव्यमानौ सुवेशौ।

मुनिसुरगणमार्थौ वेदशास्त्रादिविज्ञौ

भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ॥

अतिसुमधुरमूर्तौ दुष्टदर्पप्रशान्तौ

सुरवरसंवादौ द्वौ सर्वसिद्धिप्रदानौ।

अतिरसवशमग्नौ गीतवाद्यप्रतानौ

भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ॥

अगमनिगमसारौ सृष्टिसंहारकारौ

वयसि नवकिशोरौ नित्यवृन्दावनस्थौ।

शमनभयविनाशौ पापिनस्तारवन्तौ

भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ॥

इदं मनोहरं स्तोत्रं श्रद्धया यः पठेन्नरः।
राधिकाकृष्णचन्द्रौ च सिद्धिदौ नात्र संशयः॥

पूजाके पश्चात् अपने इच्छानुसार नियमितरूपसे भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीराधाके मन्त्रका जप करे—

श्रीकृष्ण-मन्त्र

(१) अष्टादशाक्षर-मन्त्र

ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।

(२) दशाक्षर-मन्त्र

ॐ गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।

(३) गोपाल-गायत्री

ॐ कृष्णाय विद्महे दामोदराय धीमहि तन्नः कृष्णः प्रचोदयात्।

(१) श्रीराधा-मन्त्र

ॐ ह्रीं श्रीराधिकायै नमः।

(२) श्रीराधा-गायत्री

ॐ ह्रीं राधिकायै विद्महे गान्धर्विकायै विधीमहि तन्नो राधा प्रचोदयात्।

श्रीराधामाधव-युगल महाभाव-रसराज।
करुना करियो दीन पै रहियो हृदयँ बिराज॥
दीजौ निज पद कमल की प्रीति पवित्र अनन्य।
प्रभु-सुख-हित सेवा बनै सुचि जीवन हो धन्य॥
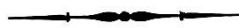
सत्संग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(संग्रहकार—एक सत्संगी)

१-मानव-जीवनकी गतिको हमने भगवान्‌की ओर मोड़ दिया, भगवान्‌के मार्गपर हम चल निकले तो कभी-न-कभी हम भगवान्‌को पा लेंगे; क्योंकि यह वस्तु ही ऐसी है। जिसने एक बार अपना हाथ भगवान्‌को पकड़ा दिया, उसे भगवान् कभी छोड़ते नहीं। वह छुड़ाना चाहे—चाहे वह वैर करे, द्वेष करे, दोषारोपण करे—भगवान् उसे छोड़ते नहीं। वे छोड़ना जानते ही नहीं।

२-भगवान्‌को हाथ कैसे पकड़ाये, वे दीखते नहीं—इसका उत्तर है कि भगवान् सर्वत्र हैं, वे न दीखनेपर भी हमारी प्रत्येक बात सुनते हैं, हमारी प्रत्येक चेष्टाको देखते हैं। अतः बिना किसी मिश्रणके हम कहें कि 'भगवन्! हमारा हाथ पकड़ लो, तो वे न दीखते हुए भी हमारा हाथ पकड़ लेंगे। गड़बड़ हमारी ओरसे ही होती है, हम कुछ-न-कुछ अपने पास रखकर हाथ पकड़ाना चाहते हैं।'

३-भगवान् भावको देखते हैं। वे जैसे ब्राह्मणके हैं, वैसे ही चाण्डालके भी। उनके मनमें किसीके भी प्रति भेद नहीं है। भेद तो व्यावहारिक जगत्‌का है और यह आवश्यक भी है। भगवान् तो अंदरके भावको देखते हैं—'किसके मनमें मुझे पानेकी कैसी चाह है, कौन किस वस्तुके बदले मुझे चाहता है, और वे भावके अनुरूप अपनी कृपाका प्रकाश करते हैं।'

४-शूरवीर वह है जो अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिये सर्वस्व देनेको तैयार है, जो अपनेको भगवान्‌के लिये होम देनेको प्रस्तुत हो।

भगवान्‌के लिये जो कुछ दे दिया जाय, वही सच्चा सौदा है। वास्तवमें तो भगवान्‌को देनेके लिये हमारे पास है ही क्या!

५-भगवान्‌के भजनमें, भगवान्‌की प्राप्तिमें, भगवान्‌के लिये चाह पैदा होनेमें कुछ कमी है तो श्रद्धा-विश्वासकी। भगवान्‌की चाहमें दूसरी चाह शामिल होनेसे भगवान् बहुत बिगड़ते हैं। बिगड़नेका यह अर्थ नहीं कि वे नाराज हो जाते हैं, वे बस, अपनेको छिपाये रहते हैं, सामने नहीं आते। वे उस दिन सामने आयेंगे जिस दिन भक्त कहेगा—'भगवन्! मैं केवल तुम्हें ही चाहता हूँ। मुझे धन-परिवार, लोक-परलोक, भोग-मोक्ष कुछ भी नहीं चाहिये। मैं तो केवल तुम्हींको चाहता हूँ। तुम्हें चाहनेमें यदि मेरा लोक बिगड़े तो बिगड़ने दो, परलोक बिगड़े तो बिगड़ने दो।'

६-भगवान् सत्यसंकल्प हैं। भगवान्‌की बात तो भगवान्‌में ही है। परंतु जो भगवान्‌के हैं, जो संत पुरुष हैं, उनकी सद्भावना, उनका सत्संकल्प भी हमलोगोंकी उन्नतिमें बहुत सहायक होता है। हमलोगोंकी उन्नतिका एक परम साधन यह है कि जो अच्छे पुरुष हैं, उनका सत्संकल्प हमारे लिये हो। हमारा आचरण इस प्रकारका हो कि उससे प्रसन्न होकर सत्पुरुष हमारे लिये सत्संकल्प करें। वैसे सत्पुरुषोंका स्वाभाविक ही सबके लिये सत्संकल्प होता है, पर जहाँ विशेष संकल्प होता है, वहाँ अत्यन्त कलुषभावापन्न व्यक्ति भी उसके प्रभावसे पवित्र बन जाता है। सत्पुरुषोंका हमारे लिये सत्संकल्प हो—इसमें विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है। वे हमारा जैसा आचरण-स्वभाव चाहते हैं, उसके अनुरूप बननेका हम प्रयत्न करें। फिर वे सहज दयालु तो हैं ही।

७-सत्पुरुष बननेकी यह तरकीब है कि भगवान्‌का आश्रय करके एक-एक दैवी गुणको अपनेमें लानेकी चेष्टा करे।

८-श्रद्धा-विश्वास—ये दो भक्तिके आधारस्तम्भ हैं, भक्ति पनपती है इन्हींके आधारपर तथा इन्हींके द्वारा। जहाँ विश्वास हुआ, वहीं तत्परता आ गयी, जहाँ तत्परता आयी, वहीं सारी इन्द्रियाँ उसमें लगीं और जहाँ सारी इन्द्रियाँ लगीं कि वस्तुकी प्राप्ति हो गयी।

९-जो भगवान् ध्रुवके समय थे, द्रौपदीके समय थे, वे कहीं गये नहीं हैं। उनकी सामर्थ्य वही है, उनका सौहार्द वही है, उनका प्रेम वही है, हमारे अंदर ध्रुव-द्रौपदीवाले विश्वासकी कमी है।

१०-सच बात कही जाय तो यह है कि भोगोंका मिलना जितना कठिन है, भगवान्‌का मिलना उतना कठिन नहीं है। बल्कि बहुत सहज है, क्योंकि भगवान् मिलते हैं चाहसे, इच्छासे, संसारके पदार्थ प्राप्त होते हैं उनके लिये वैसी क्रिया होनेपर, खेतमें बीज बोया, अंकुर निकला, पत्ते निकले, फूल आये, फल लगा—यह क्रम है कर्मका, पर भगवान् कर्मके फल नहीं हैं, भगवान् तो प्राप्त ही हैं। उनकी प्राप्तिके लिये चाहिये इच्छा। पर इच्छामें कहीं गड़बड़ी नहीं होनी चाहिये। इच्छा यदि व्यभिचारिणी रही तो भगवान्‌का मिलना असम्भव है। भगवान्‌के लिये हमारी जो चाह है, वह होनी चाहिये अनन्य अर्थात् उनको छोड़कर दूसरे औरके लिये नहीं। जिसके मनमें जिस घड़ी ऐसी चाह उत्पन्न होगी, उसको उसी समय भगवान् मिल जायँगे। भगवान् ठहरे अन्तर्यामी। वे जान लेते हैं कि किसके मनकी इच्छा क्या है, कैसी है। अतएव उनसे हमारे मनकी व्यभिचारिणी चाह छिपी नहीं रह सकती।

११-भगवान्‌में चाह नहीं है, वे इच्छारहित हैं। भक्तकी चाह भगवान्‌में प्रतिबिम्बित होती है। किसीने अनन्य चाह की—'भगवान् मुझे मिलें।' भक्तकी यह चाह भगवान्‌में दीखने लगेगी। भगवान्‌की चाहका उत्पन्न होना और पूर्ण होना एक साथ होता है। अतः जहाँ भगवान्‌में चाह हुई कि भक्तको दर्शन हुए।

१२-भगवान्‌की कीमत है—लालसा, इतनी उत्कण्ठा मनमें पैदा हो जाय कि उनको छोड़कर दूसरी कोई चीज सुहावे ही नहीं।

१३-भगवान्‌की प्राप्ति—भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति सहज है, पर उसकी प्यास होनी चाहिये। प्यास लगेगी भगवान्‌के महत्त्वका ज्ञान होनेसे तथा उनकी आवश्यकताका अनुभव होनेसे। ये दोनों बातें होती हैं सत्संगसे, इससे सत्संगकी आवश्यकता है।

१४-भगवान् मिलते हैं केवल चाहसे, किसी साधना, प्रयत्न, क्रियासे नहीं। भगवान् किसी कारखानेमें बनाये नहीं जाते, किसी खेतमें बीजरूपमें बोकर फलरूपमें भगवान् प्रकट नहीं किये जाते। भगवान् मिलते हैं अनन्य लालसासे; मिलनेकी एकान्त चाह हो, दूसरी कोई चाह रहे ही नहीं। × × × भगवान् चाहते हैं, मेरा भक्त रहे और मैं रहूँ, तीसरा उन्हें सुहाता नहीं।

१५-सारे पुण्योंकी कीमत है, पर भगवान्‌के भजनकी कीमत नहीं। जो, जो चाहे वही भगवान्‌के भजनकी कीमत है। रामनामकी कीमत किसी शास्त्रमें अंकित नहीं है। यदि किसीने भोग चाहे तो उसकी कीमत वही हो गयी। पर यदि भक्त उसके बदले कुछ न चाहे तो भगवान् स्वयं उसके वशमें हो जाते हैं। × × × भगवान्‌के भजनका कोई मूल्य आँक लेता है, माँग लेता है—'भगवन्! मुझे पुत्र दो, धन दो, सम्पत्ति दो, यश दो, स्वर्ग दो'—तो वह घाटेमें ही रहता है। भगवान्‌से माँगे तो यही कि 'आप जो चाहें वही दें।' भगवान् क्या चाहेंगे?—वे अपनेको ही दे देते हैं।

१६-जो भगवान्‌को अपना मानता है, भगवान् भी उसे अपना मानते हैं। भगवान् जिसे अपना लेते हैं, उसके समान समृद्धिमान्, भाग्यवान्, सौभाग्यवान् और कौन होगा।

१७-'भगवान् ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं'—ऐसा निश्चय हो जाय

और अपने त्राणकर्ताके रूपमें दूसरेको हिस्सा न दे तो भगवान् उसकी सँभाल स्वयं करते हैं। पापोंको काटनेका पूरा अधिकार भगवान् स्वयं चाहते हैं। वे कहते हैं—'पूरी मालिकी मुझे दे दो।' वास्तवमें बात भी सच्ची है, पापीको कौन अपने पास बैठायेगा। ऊपरके मैलसे लोग घृणा करते हैं, फिर भीतरके मैलको कौन सहन करेगा। परंतु महापापीको भी पास बैठानेमें भगवान्को न भय है, न लज्जा। इसीसे उनका नाम है—पतितपावन।

१८-जगत्के जितने भोग हैं, वे प्रारब्धवश आते-जाते रहेंगे। उनके आनेमें हमारा कोई वास्तविक लाभ नहीं, जानेमें वास्तविक कोई हानि नहीं। यदि संसारकी चीजोंने आकर मनमें गर्व उत्पन्न कर दिया और उन चीजोंके सेवनसे बुराई आने लगी तो वे हमारे लिये हानिकर हैं। इसके विपरीत संसारकी चीजें गयीं और उससे वैराग्य उत्पन्न हुआ, भगवान्में मन लगा तो उनका जाना भी हितकर है। हमारे मनसे भगवद्भाव घटा तो हानि, गया तो महान् हानि। और भगवद्भाव बढ़ा तो लाभ, स्थिर हो गया तो महान् लाभ। जगत्के पदार्थ जायँ या रहें—मतलब भगवद्भावसे है, वह रहना चाहिये। वह भाव जगत्के पदार्थोंके रहनेसे रहे तो उत्तम, और उनके चले जानेमें रहे तो उत्तम।

१९-भगवान्में एक बड़ा महान् दयाका भाव है कि वे पुराने इतिहासके पन्ने नहीं उलटते। पहले हमने क्या किया, कैसे रहे, क्या बर्ताव किया—ये सब वे कुछ भी नहीं देखते। वे देखते हैं—वर्तमानमें हम क्या हैं। अतः भूतको भूलकर वर्तमानको सँभालो और भगवान्की अनन्य शरण हो जाओ। भगवान्के सामने आते ही सारे शुभाशुभ अपने-आप जल जायँगे। '**सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥**'

२०-संसारका कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो निरन्तर एक-सी रुचि

बढ़ाता रहे और उससे सदा आनन्द मिलता रहे। पर भगवान्का स्मरण प्रतिक्षण आनन्द देनेवाला है और वह आनन्द प्रतिक्षण वर्द्धमान है, किंतु हमलोग तो भगवान्से क्षण-क्षणमें ऊबते हैं। इससे यही ज्ञात होता है कि हमें उनका वास्तविक स्वाद आया ही नहीं।

२१-जबतक भगवत्-साधनमें भार मालूम होता है, तबतक वह बहुत मन्द है। जब भार मालूम नहीं होता, सुखकी आशासे मन उसमें लगा रहता है तो वह मन्द दर्जेका है। पर जब सुखकी आशा न रखकर भी मन उसमें लगा रहता है तो वह मन्दसे ऊपरके दर्जेका है। लेकिन जब मन भजन किये बिना रह सकता ही नहीं—न होनेपर उसमें छटपटाहट होने लगती है, तब वह उत्तम है। जबतक भजनमें रुचि नहीं होती, तबतक भजनकी वास्तविक माधुरीकी अनुभूति नहीं। रुचि उसका नाम है, जिसमें क्षण-क्षणमें शरीर रोमांचित होता रहे, मन पुलकित हो जाय तथा विभोरचित्त होकर आँखोंसे आँसू बह चले। रति तो इसके बाद होती है।

२२-भजनसे ही मानवता टिकती है; जिसके भजन नहीं, वह मानव दानव हो जाता है।

२३-विषयोंका चिन्तन सर्वनाशका मूल है और भगवान्का चिन्तन यदि पापी भी करेगा तो उसके सब पापोंका समूल नाश हो जायगा तथा उसे भगवान्की प्राप्ति हो जायगी।

२४-संसारके भोगोंमें अनर्थकारी बुद्धि पैदा हो जाय, यह साधनाकी पहली सीढ़ी है।

२५-साध्यवस्तुमें जबतक विश्वास नहीं, तबतक साधन कैसे हों? कहाँ जाना है, इसका पता हुए बिना यात्राकी बातें कैसी? अतः सबसे पहले यह स्थिर कर लेना है कि भगवान्में ही सुख है, जगत्के विषयोंमें नहीं। इसलिये भगवान्को पाना ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य है।

२६-जहाँ प्रेम है, वहाँ वैराग्य है ही। प्रेमी मनुष्य विषयानुरागी हो

नहीं सकता। जो सर्वस्व छोड़ नहीं सकता वह प्रेमी नहीं बन सकता। प्रेमकी यह परिभाषा है कि प्रेमके सिवा सारे जगत्‌का अस्तित्व मिट जाय प्रेमीके लिये। उसे प्रेम ही दीखे, प्रेम ही सुने और प्रेमकी ही सुवास आवे। जगत्‌का सर्वनाश होनेपर ही प्रेम आता है। बिना त्यागके प्रेमकी पाठशालामें प्रवेश ही नहीं हो सकता, त्यागकी भूमिमें ही प्रेमका बीज-वपन होता है।

२७-प्रेमकी जड़ नित्य होती है। प्रेममें दो बातें होती हैं—वह कभी घटता नहीं, टूटता नहीं। जहाँ ये दो बातें नहीं होतीं, वहाँ स्वार्थ ही प्रेमका स्वाँग धरकर बोलता है। प्रेममें कुछ भी लेनेकी कल्पनातक जाग्रत् नहीं होती। सर्वस्व देकर भी मनमें आता है कि कुछ है ही नहीं, क्या दिया जाय। प्रेम सदा अपनेमें कमीका बोध करता है। मोहसे उत्पन्न प्रेम (काम) वस्तु प्राप्त होनेपर घट जाता है। प्रेम वस्तुकी प्राप्ति होने और न होने—दोनों ही अवस्थाओंमें एक-सा रहता है।

२८-जबतक मनुष्य भोगोंकी प्राप्तिमें भगवान्‌की कृपा मानता है तबतक उसने कृपाको समझा नहीं है।

२९-मौत आनेसे पहले-पहले अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप दो—'हम तो तुम्हारे हो गये, अपनी चीजको जैसे चाहो सँभालो, बरतो, सजाओ, तोड़ो।' बस, मनुष्य-जीवनमें यही करना है।

३०-निर्भर भक्त भगवान्‌पर ही पूर्ण निर्भर करता है। उसे इतना ही याद रहता है—'मैं भगवान्‌का हूँ।' फिर भगवान्‌को जब जैसे करना है, अपने-आप करें। सारी चिन्ता, व्यवस्था, सारा भार माँके जिम्में बच्चा तो माँकी गोदमें मस्त है। पर जहाँ कुछ तकलीफ मालूम दी कि रोने लगा। माँ मारती है तब भी वह उसीकी गोदमें छिपता है। निर्भर भक्तकी यही दशा है।

३१-भगवान्‌की शरण होनेपर भी निश्चिन्तता न आवे और चिन्ता

बनी रहे तो समझना चाहिये कि निर्भरताको समझा ही नहीं गया है। भगवान्‌की शरण होनेपर भी चिन्ता बनी रहे, यह सम्भव नहीं। अतः जबतक ऐसा न हो, तबतक अपनी शरणनिष्ठामें कमी समझनी चाहिये।

३२-जैसे धनका हिसाब-किताब रहता है, उसी प्रकार हमारा जो आध्यात्मिक धन है, असली कमाई है, उसमें हम घाटेमें रहे कि नफेमें, क्या कमाई हुई—दिनभरमें, महीनेभरमें, सालभरमें, क्या तलपट रहा—इसका हिसाब रखना चाहिये।

३३-जिसके मनमें चाह है, वह भिखमंगा है। जहाँतक चाह है, वह बादशाह होते हुए भी भिखमंगा है और जिसके कुछ चाह नहीं, उसके पास कुछ न होते हुए भी वह बादशाह है। वह सदा निश्चिन्त और निर्भय रहता है।

३४-सुख किसी वस्तुमें नहीं, अपने आत्मामें है, अपने अंदर है। हमारी मनचाही चीज जब हमें मिलती है, तब हमारा मन कुछ क्षणोंके लिये टिकता है और उस टिके हुए मनपर आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं हम मान लेते हैं कि सुख अमुक वस्तु या परिस्थितिमें है। पर वास्तवमें संसारकी वस्तुएँ तो उपभुक्त होनेके पश्चात् मनको दूसरी वस्तुके लिये चंचल कर देती हैं, उनमें सुख कहाँ !

३५-जितना भी जागतिक सौन्दर्य है, केवल हमारी कल्पनामें है। सुन्दरता वस्तुमें नहीं है, वह हमारी धारणामें है। हमने मान लिया है कि अमुक पोशाक, रूप, रंगमें सुन्दरता है। पर वास्तवमें देखें तो इस हड्डी, चमड़ी, कफ, थूक, लार, मांस, मज्जा, बालोंसे भरे शरीरमें सौन्दर्य कहाँ है! इन चीजोंको अलग-अलग करके देखा जाय तो उनमें सौन्दर्यकी तो कौन कहे, घृणा प्रतीत होगी। चमड़ीके वेष्टनमें ये चीजें भरी हैं। इससे हमारे मनने उनमें सौन्दर्यबुद्धि कर ली है। हमारे मनने मान लिया है कि अमुक डील-डौल, अमुक प्रकारका रंग,

अमुक प्रकारके अंगोंकी बनावटमें सौन्दर्य है। वस्तुत: तो इस शरीरकी प्रत्येक वस्तु घृणाका ही रूप है।

३६-घाटा दो प्रकारका है—एक लौकिक और दूसरा पारमार्थिक। लौकिक घाटा मनसे माननेपर है तथा उसकी पूर्ति भी सम्भव है, किंतु पारमार्थिक घाटा जन्म-जन्मान्तरतक कष्ट देता है। अत: जागतिक धनके लिये पारमार्थिक धनका नाश नहीं करना चाहिये।

३७-अपने अंदर इतनी भलाई भरे और वह इतनी सुदृढ़ हो जाय कि कहीं भी जायँ, उसपर बाहरकी बुराईकी बूँद भी न लगे, अपितु जो सम्पर्कमें आवें उनपर हमारी अच्छाईकी निश्चित छाप पड़े। इतना प्रागल्भ्य होना चाहिये, इतना तेज होना चाहिये अपनी शुद्धतामें कि यदि कोई पापी आदमी भी सम्पर्कमें आ जाय तो कम-से-कम जितनी देर वह पास रहे, उतनी देरके लिये तो उसका मन पापसे हट जाय।

३८-जहाँ जो काम होता है, जैसे आदमी रहते हैं, जैसी बातें होती हैं, जैसी क्रियाएँ होती हैं, वहाँ वैसे ही चित्र वायुमण्डलमें बन जाते हैं। स्थान-माहात्म्य वहाँके परमाणुओंको लेकर है और परमाणु वहाँ हुई क्रियाओंको लेकर। तीर्थ क्या हैं?—तीर्थोंमें अच्छे लोग रहे, महात्मा रहे, भगवान्‌की उपासना, आराधना तथा तप आदि हुए। अत: वहाँके वायुमण्डलमें, जलकणमें, रजकणमें, भगवद्भावके परमाणु भर गये। यही तीर्थोंका तीर्थत्व है।

३९-मनुष्य दूसरेके दोष देखता है, अपने नहीं। जो वस्तु मनुष्य देखता रहता है, वह उसमें आती रहती है। गुण देखनेवालेको गुण मिलते हैं, दोष देखनेवालेको दोष—यह नियम है। कोई भी चीज जब इन्द्रियाँ देखती हैं, सुनती हैं, सूँघती हैं और मन साथ है तो सुनी, देखी, सूँघी बात उड़ नहीं जायगी, वह मनपर लिखी जायगी। अत: जब हम किसी वस्तुमें, व्यक्तिमें बुराई देखते हैं तो वह बुराई हमारे मनपर

लिखी जाती है और जब भलाई देखते हैं तो भलाई लिखी जाती है। अतएव बुद्धिमान् पुरुषको सदा-सर्वदा सर्वत्र शुभको ही देखना चाहिये।

४०-जिसके ममताकी चीजें जितनी अधिक हैं, वह उतना ही अधिक दु:खी है।

४१-वैराग्यका अर्थ घर छोड़ना या कपड़े बदलना नहीं है। वैराग्यका अर्थ है विषयासक्तिको छोड़ना, भोगोंमें फँसे मनको उनसे छुड़ा लेना। वैराग्यका अर्थ यह नहीं कि किसी वस्तुको हम स्वरूपसे छोड़ दें; वैराग्यका अर्थ है—उस वस्तुमेंसे हम मनकी वृत्तिको हटा लें।

४२-विपत्तिमें साहस भगवान्की बड़ी कृपासे होता है। जो विपत्तिमें अपनेको निराश कर देता है, उसका उठना बड़ा कठिन होता है। विपत्ति तो मनुष्यके लिये कसौटी है; मनुष्यको मनुष्य बनाती है; उज्ज्वल बनाती है। विपत्ति सेवाकी भी भावना उत्पन्न करती है; क्योंकि विपत्तिमें पड़नेसे मनुष्य दूसरेकी विपत्तिको समझनेकी योग्यता प्राप्त करता है।

४३-जगत्के विषयी लोगोंमें जो श्रेष्ठ कहलाता है, उनके तराजूपर जो वजनदार उतरता है, समझ लो कि वह नीचे गिरा हुआ है। जो भगवान्की ओर बढ़नेवाला है, वह जगत्की बुद्धिके काँटेमें हलका उतरता है, किंतु वास्तवमें वह श्रेष्ठ है। संसारके विषयी लोगोंकी बुद्धिमें विषयोंका त्याग करनेवाला मूर्ख जँचता है, चाहे वे ऊपरसे कभी उसकी प्रशंसा कर दें, परंतु उसके प्रति उनकी तिरस्कार-बुद्धि होती है। अतएव विषयीलोग जिसको मूर्ख समझें, वही बुद्धिमान् है। आध्यात्मिक मार्गमें और जगत्का तिरस्कार, अपमान ऐसे पथिकके भूषण होते हैं।

४४-मिठाईमें जहर मिला हुआ है। सब चीजें घी, चीनी, मावा आदि वैसे ही हैं, देखनेमें सुन्दर हैं, सुगन्धित हैं और खानेमें मीठी भी हैं, बड़ा स्वाद भी आता है, पर परिणाम जहरका होता है। खानेवाला मर जाता है। ऐसे ही जितने विषय-सुख हैं, वे आरम्भमें

अमृतके समान मालूम होते हैं, परंतु उनका नतीजा जहरके समान है। जगत्के जितने विषय हैं, वे वास्तवमें सुखरूप नहीं हैं, वे ऊपरसे ही सुखरूप दिखायी देनेवाले हैं।

४५-दैवी सम्पत्ति यदि बढ़ रही है, भगवान्में रुचि, प्रेम, आसक्ति, आकर्षण, उनका चिन्तन, उनकी स्मृति—ये सब चीजें बढ़ रही हैं तो समझना चाहिये कि हम ठीक रास्तेपर हैं। हमारी प्रगति हो रही है। यदि हम भगवान्को भूल रहे हैं, उनके प्रति आकर्षण, प्रीति आदि नहीं हैं, वे लापरवाहीकी वस्तु बने हुए हैं और आसुरी सम्पत्तिकी क्रमशः वृद्धि हो रही है तो चाहे हम भक्त, संत या महात्मा बने हुए हों और लोग भी हमें संत-महात्मा कहते हों, पर हम हैं पतित ही और जा भी रहे हैं पतनके गर्तमें ही। झूठे संत-महात्मा कहलानेमें हमें कुछ भी लाभ नहीं, उलटे हानि-ही-हानि है।

४६-दुःख न तो किसी वस्तुमें है और न उसके अभावमें है। दुःख है हमारे मनकी भावनामें। एक व्यक्ति घरसे निकाल दिया गया; दूसरा घर छोड़कर संन्यासी हो गया। स्थिति दोनोंकी एक है; पर पहलेको दुःख है, दूसरेको सुख। मंगलमय भगवान् हमारे लिये अमंगल कर ही नहीं सकते—इसपर विश्वास करके प्रत्येक दशामें सदा भगवान्का मंगलमय विधान समझे तो हमारे लिये दुःख रहे ही नहीं।

४७-संसारका सुख प्रच्छन्न दुःख है। जब पर्दा हट जाता है तो वह दुःख तो है ही, पर मनुष्य उस स्थितिमें रोने लगता है।

४८-चाहे सत्यपर रहनेवाले व्यक्तिको असत्यसे अनुप्राणित लोगोंद्वारा कष्ट दिया जाय, परंतु इससे सत्यका कुछ बिगड़ता नहीं। वह तो सोनेको तपानेकी भाँति और भी उज्ज्वल होता है, निखरता है।

४९-जो सत्यको अपनाये हुए हैं, उन्हें जो लाभ होता है, वह ठोस होता है, असत्यसे जो लाभ होता है, वह तो लाभ ही नहीं है, भ्रमवश

लाभ-सा दीखता है। वह महान् हानिका पूर्वरूप होता है। सत्य-पालनमें जो कष्ट होता है वह अन्तमें बहुत सुख देनेवाला होता है। वह पहले जहर-सा लगता है, पर परिणाममें अमृत-सदृश होता है, स्थायी होता है, ठोस होता है, नित्य होता है। वह हवाका-सा सुख नहीं होता जो उड़ जाय।

५०-विपत्तिमें, दुःखमें, धर्म और सत्यपर दृढ़ रहना बड़ी कठिन बात है। पर जो दृढ़ रहता है उसकी विजय अवश्य होती है। जो व्यक्ति सत्य-सेवनसे विपत्ति-ग्रस्त हो, उसे घबराना नहीं चाहिये, क्योंकि सत्य सदा विजयी है। सत्यका मूल्य प्राणोंकी अपेक्षा भी बहुत ऊँचा है।

५१-जब विपत्ति आये तब समझना चाहिये कि मुझपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है, भगवान् कृपा करके मुझे अपनाना चाहते हैं, इसीसे वे 'अपने मन' की कर रहे हैं। विपत्ति भगवान्‌के मिलनेका संकेत है, मानो भगवान् इशारा करते हैं कि मैं तुमसे मिलना चाहता हूँ।

५२-जबतक 'विषयोंमें सुख है'—यह भ्रान्ति है, तबतक चाहे संसारके कितने ही भोग प्राप्त कर लें, हम सुखी हो नहीं सकते, क्योंकि वहाँ सुख है नहीं। जबतक आग जलती रहेगी, तबतक गरमी कैसे मिटेगी!

५३-बुद्धिमान् वह, बड़भागी वह, जिसका मन यह जान चुका कि विषय दुःखयोनि है, दुःखोंके उत्पत्तिका क्षेत्र है। विषयोंमें सुख नहीं, इनसे सुख मिल नहीं सकता। इसके विपरीत जो विषयोंमें सुख है, ऐसा मानते हैं, वे अभागे हैं, मूर्ख हैं।

५४-जिसको यह निश्चय हो गया कि एकमात्र भगवान्‌में ही सुख-शान्ति है और जिसने विश्वासपूर्वक अपनेको भगवच्चरणोंपर न्योछावर कर दिया, वही भोगत्यागी महापुरुष बड़भागी है।

कल्याण-सूत्र

मैं बाहर-भीतर सर्वत्र भगवान्‌की कृपासे घिरा हुआ हूँ। मुझपर चारों ओरसे भगवान्‌की दया बरस रही है। मैं सर्वथा भगवान्‌का हूँ, भगवान्‌ने मुझको अपना मान लिया है—

इससे भगवान् अपनी वस्तुकी भाँति ही मेरी सदा पूरी देख-रेख करते हैं।

भगवान्‌की अनन्त शक्ति मेरी सदा सहायता करती रहती है—इसलिये मैं कभी भी असफल नहीं हो सकता।

मैं किसी भी कठिन-से-कठिन कामको आसानीसे कर सकता हूँ। मेरी योग्यता प्रतिक्षण बढ़ रही है तथा सब उसपर विश्वास करते हैं।

मेरा जीवन सदा सफल होगा—सफल होगा ही।

मेरी बड़ी उपयोगिता है, क्योंकि प्रत्येक कार्यको मैं भगवान्‌की सेवा समझकर पूरी दिलचस्पीसे करता हूँ।

भगवान्‌का अनन्त प्यार मुझपर सदा बरस रहा है—

इसलिये—मेरा चित्त सदा शान्त है, उसमें अशान्ति आ ही नहीं सकती।

मेरा चित्त सदा सुखपूर्ण है, उसमें दुःख आ ही नहीं सकता।

मेरा चित्त सदा प्रफुल्लित है, वह कभी मुरझा ही नहीं सकता।

मेरा चित्त सदा स्नेहपूर्ण है, उसमें रूखापन आ ही नहीं सकता।

मेरा चित्त सदा पवित्र है, उसमें गंदगी आ ही नहीं सकती।

मेरा चित्त सदा भगवदाश्रित है, उसमें जलन हो ही नहीं सकती।

मेरा चित्त सदा पुण्यमय है, उसमें पापका बीज रह ही नहीं सकता।

मेरा चित्त सदा भगवद्विश्वासी है, उसमें निराशा आ ही नहीं सकती।

मेरा चित्त सदा भगवान्‌का स्मरण करता है, उसमें भय, विषाद, शोकका प्रवेश हो ही नहीं सकता।

मैं सुखी हूँ, मैं निष्पाप हूँ, मैं शान्त हूँ, मैं सफल हूँ, मैं निर्भय हूँ, मैं प्रफुल्लित हूँ।

मैं नित्य भगवत्सेवामें लगा हूँ।

मैं नित्य भगवान्पर भरोसा रखता हूँ।

भगवान् सदा मेरे साथ हैं।

भगवान् सदा मेरी रक्षा करते हैं।

भगवान् सदा मुझे पथ-प्रदर्शन करते हैं।

भगवान् सदा मुझे सफलता देते हैं।

भगवान् सदा मुझे आगे बढ़ाते हैं।

भगवान् सदा मुझे अभय देते हैं।

भगवान् सदा मुझे पवित्र रखते हैं।

क्योंकि मैं भगवान्का हूँ।

भगवान्ने मेरी सारी कमजोरियाँ ले ली हैं।

भगवान्ने मेरी सारी निराशाएँ ले ली हैं।

भगवान्ने मेरी सारी कठिनाइयाँ ले ली हैं।

भगवान्ने मेरी सारी अयोग्यताएँ ले ली हैं।

भगवान्ने मेरी सारी कुवृत्तियाँ ले ली हैं।

भगवान्ने मेरी सारी शोक-विषादकी भावनाएँ ले ली हैं।

भगवान्ने मेरी सारी भयकी भावनाएँ ले ली हैं।

भगवान्ने मेरी सारी अपवित्रताएँ ले ली हैं—

क्योंकि मैं भगवान्का हूँ।

इसलिये—मैं सदा सबल हूँ, सदा आशापूर्ण हूँ, सदा सरल-जीवन हूँ, सदा योग्य हूँ, सदा सद्वृत्तिशील हूँ, सदा निर्भय हूँ, सदा प्रसन्न हूँ और सदा पवित्र हूँ।

भगवान् मेरे हैं, मैं उनका हूँ निश्चय! निश्चय!! निश्चय!!!

भगवान् मेरे सहायक हैं, मुझे कोई भय नहीं

मेरे अन्तरात्माके रूपमें स्थित भगवान् मुझे प्राप्त होनेवाली किसी भी परिस्थितिसे महान् हैं। मेरे लिये कोई भी स्थिति असहनीय नहीं है। भगवान्के अचिन्त्य ज्ञानके द्वारा कठिन-से-कठिन परिस्थितिका भी सरलतासे समाधान हो जाता है। अतएव मैं अपने जीवनकी समस्याओंको भगवान्की सर्वसंरक्षण शक्तिको सौंपता हूँ। भगवान्की समाधान-विधायिनी शक्तिके सामने कुछ भी असम्भव तथा नैराश्यमय नहीं है। इसलिये किसी भी भयंकर स्थितिके झाँकनेपर मैं भयभीत नहीं होता।

मुझे प्राप्त होनेवाली प्रत्येक स्थितिका सामना अपने आत्मारूपमें स्थित तथा सम्पूर्ण जगत्में परिव्याप्त परमात्माकी स्थिति-संधायिनी शक्तिपर पूर्ण विश्वास करते हुए करता हूँ। जब मैं अपने मनको भगवान्की संरक्षणात्मक सर्वव्यापकतापर केन्द्रित रखता हूँ तो मैं किसी भी प्रकारकी हानिका भागी नहीं होता। मैं जीवनकी प्रत्येक स्थितिका प्रसन्नता एवं साहसके साथ सामना करता हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरे अन्तरमें स्थित भगवान्का विवेक मेरा मार्गदर्शन करता है तथा उनकी शक्ति मुझे शक्तिमान् बनाती है। अतएव मुझे कोई भय नहीं। मैं अपने स्वजनोंको भी परमात्माकी स्थिति-संधायिनी शक्तिको सौंपता हूँ। मुझे विश्वास है कि उन्हें किसी प्रकारकी हानि नहीं हो सकती। परमात्मा उनमें भी विद्यमान है तथा प्रत्येक अवस्थामें उनका निरापद मार्गदर्शन करता है।

भगवान् मेरे सहायक हैं, मुझे कोई भय नहीं।

संकटके समय विश्वासी भक्तकी भावना

मैं भगवान्‌की संतान हूँ और निरन्तर उनकी स्नेहभरी संनिधिमें हूँ। इस अनुभूतिसे मुझे अपार साहस एवं शान्ति प्राप्त होती है।

विकट परिस्थितियोंमें मुझे असामर्थ्यका अनुभव करनेकी आवश्यकता नहीं। जिम्मेवारियोंका बोझ भी अपने ऊपर माननेकी मुझे आवश्यकता नहीं; और न जीवनकी परिस्थितियोंके परिवर्तन होनेपर मुझे यह भय करनेकी आवश्यकता है कि मेरी सुरक्षा—मेरा आश्रय अब विचलित हो रहा है।

'मैं कभी ऐसे स्थानपर नहीं रह सकता, न जा सकता, जहाँ भगवान् विद्यमान न हों'—यह विचार मेरे लिये कितने उत्साह, विश्वास और स्थिरताका है। मुझे भय करनेकी आवश्यकता नहीं; न मुझे संदेह करनेकी आवश्यकता है। मैं भगवान्‌की संतान हूँ; सदा उनके संरक्षणमें हूँ। वे मुझे प्यार करते हैं और उनका यह प्यार कभी नष्ट नहीं होता। भगवान् जीवनकी प्रत्येक गतिमें मेरा मार्गदर्शन करते हैं तथा मुझे उस मार्गपर बढ़ा ले चलते हैं। भगवान् सदा मेरे संनिकट हैं, मुझे सदा प्यार करते हैं, सदा मेरी पुकारका उत्तर देते हैं एवं सदा मेरी सहायता करते हैं।

'मैं भगवान्‌की संतान हूँ'—मैं इस सत्यका बार-बार स्मरण करता हूँ। प्रतिदिनकी प्रार्थनाके समय मैं भगवान्‌की संनिधिकी दृढ़ भावना करता हूँ और मैं अनुभव करता हूँ कि भगवान्‌का प्यार मेरे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सक्रिय है।

मैं भगवान्‌में हूँ और भगवान् मुझमें हैं।

प्रतिशोधकी भावनाका त्याग करके प्रेम कीजिये

प्रह्लादको मारनेके लिये हिरण्यकशिपुके हितैषी षण्डामर्क नामक पापी पुरोहितोंने अग्निशिखाके समान प्रज्वलित शरीरवाली कृत्याको उत्पन्न किया। उसने प्रह्लादको मारना चाहा, पर भगवान्‌की कृपासे वह प्रह्लादका बाल भी बाँका नहीं कर सकी और लौटकर उसने उन दोनों पुरोहितोंको समाप्त कर दिया एवं स्वयं भी नष्ट हो गयी। गुरुपुत्रोंको जलते देखकर प्रह्लादसे नहीं रहा गया। वे 'हे श्रीकृष्ण! हे अनन्त! बचाओ, बचाओ' कहते हुए दौड़े। गुरुपुत्र तो दोनों मर चुके थे। प्रह्लादको इससे बड़ा दुःख हुआ। उनके मन कोई शत्रु था ही नहीं, वे सबमें भगवान्‌को व्याप्त देखते थे। वे भगवान्‌से उनको पुनर्जीवित करनेके लिये प्रार्थना करते हुए बोले—'यदि मैं मुझसे शत्रुता रखनेवालोंमें भी सर्वव्यापी भगवान्‌को देखता हूँ; जिन लोगोंने मुझे विष देकर, आगमें जलाकर, हाथियोंसे कुचलवाकर और साँपोंसे डँसवाकर मारनेका प्रयत्न किया, उनके प्रति भी मेरी समानरूपसे मैत्री-भावना रही हो और उनमें मेरी पाप-बुद्धि न हुई हो तो उस सत्यके प्रभावसे ये दोनों दैत्य-पुरोहित जीवित हो जायँ ।'*

---

* यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानोऽनपायिनम्।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्।
तथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः॥
(विष्णुपुराण १। १८। ४१—४३)

यों कहकर प्रह्लादने उनका स्पर्श किया और वे दोनों ब्राह्मण स्वस्थ होकर उठ बैठे तथा प्रह्लादके प्रतिशोधभावसे रहित पवित्र आत्मभावकी मुक्तकण्ठसे कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे प्रशंसा करने लगे।

प्रह्लादने महान् दुःख देनेवाले पिता हिरण्यकशिपुकी सद्‌गतिके लिये सर्वदा निष्काम होनेपर भी भगवान्‌से वरदान माँगा।

इसी प्रकार एक बार महर्षि दुर्वासाने क्रोधोन्मत्त होकर तपोबलसे कृत्याके द्वारा भक्तवर अम्बरीषको मारना चाहा। भगवान्‌के सुदर्शनचक्रसे सुरक्षित अम्बरीषको कृत्या नहीं मार सकी, सुदर्शनने कृत्याको ही जलाकर राखका ढेर कर दिया। तदनन्तर भीषण चक्र दुर्वासाकी ओर चला। दुर्वासा डरकर भागे। तपोबलसे वे समस्त ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें जानेकी शक्ति रखते थे। वे दिशा, आकाश, पृथ्वी, पाताल, स्वर्ग, ब्रह्मलोक तथा कैलास—सभी जगह दौड़े गये; पर भगवद्‌भक्तके विरोधी होनेके कारण कहीं भी उनको आश्रय नहीं मिला। अन्तमें चक्रकी आगसे जलते हुए मुनि दुर्वासा वैकुण्ठमें पहुँचे और काँपते हुए वे भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्‌से रक्षा करनेकी प्रार्थना की, परंतु वहाँ भी रक्षा नहीं हुई। भगवान्‌ने कह दिया—'निरपराध साधु-पुरुषोंका बुरा चाहनेवाले तथा करनेवालेका अमंगल ही हुआ करता है। मेरे भक्त सबको त्यागकर मुक्तिको भी स्वीकार न करके मेरी शरणमें रहते हैं, वे केवल मुझको ही जानते हैं। ऋषिवर! मैं उनके अधीन हूँ। उन्होंने मुझको वैसे ही अपने वशमें कर रखा है, जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है। आपको बचना हो तो आप उन्हीं अम्बरीषकी शरणमें जाइये।'

दुर्वासा वैकुण्ठसे लौटकर अम्बरीषके चरणोंपर आ गिरे। अम्बरीष बड़े दुःखी थे। दुर्वासाजी भागे थे, तबसे अम्बरीषने भोजन नहीं किया था। आज दुर्वासाको अपने चरण पकड़े देखकर वे बहुत ही सकुचा

गये और बड़ी अनुनय-विनय करके चक्रसे बोले—'यदि मैंने कभी कोई दान, यज्ञ या धर्मका पालन किया हो और हमारे वंशके लोग ब्राह्मणोंको अपना आराध्य मानते रहे हों एवं यदि समस्त गुणोंके एकमात्र परमाश्रय भगवान्‌को मैंने समस्त प्राणियोंमें आत्माके रूपमें देखा हो तथा वे मुझपर प्रसन्न हों तो दुर्वासाजीकी रक्षा हो, उनका सारा संताप तुरंत मिट जाय।'*

अम्बरीषकी प्रार्थनासे चक्रदेव शान्त हो गये। दुर्वासाकी सारी जलन मिट गयी। तब वे प्रतिशोधकी भावनासे सर्वथा रहित तथा मारनेका पूर्ण प्रयत्न करनेवालेका मंगल चाहनेवाले अम्बरीषके सम्बन्धमें कहने लगे—'आज मैंने भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका महत्त्व देखा। आप इतना भयानक अपराध करनेवालेका भी मंगल कर रहे हैं। महाराज! आप सच्चे भगवद्भक्त हैं। आपका हृदय करुणासे परिपूर्ण है। आपने मुझपर बड़ा ही अनुग्रह किया। मेरे सारे अपराधोंको भुलाकर मेरे प्राण बचाये। धन्य हैं!'

अम्बरीषने बड़े आदरसे उनका स्वागत-सत्कार करके उन्हें भोजन करवाकर तृप्त किया।

इसी प्रकार महात्मा ईसाने क्रूसविद्ध करनेवालोंके लिये और भक्तराज हरिदासने मारनेवालोंके लिये भगवान्‌से क्षमा-प्रार्थना की।

परदोष-दर्शन, घृणा, द्वेष, प्रतिशोध (बदला लेने) की भावना, वैर और हिंसावृत्ति—ये जितना हमें नरकोंमें ढकेलते हैं, हमारा सीमारहित

---

* यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः।
कुलं नो विप्रदैवं चेद् द्विजो भवतु विज्वरः॥
यदि नो भगवान् प्रीत एकः सर्वगुणाश्रयः।
सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः॥
(श्रीमद्भा० ९। ५। १०-११)

बुरा करते हैं, उतना कोई भी दूसरा व्यक्ति हमारा बुरा नहीं कर सकता। इतिहासमें एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिल सकता, जहाँ परदोष-दर्शन, घृणा, द्वेष तथा प्रतिशोधके द्वारा किसी भी सत्कार्यकी सिद्धि हुई हो। ये विचार या भाव मानव-जीवनके शान्ति तथा आनन्दको नष्ट कर देते हैं, इनसे बुद्धि मारी जाती है, विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है, विचारका संतुलन मिट जाता है और मनुष्य अपना हित सोचनेमें सर्वथा असमर्थ होकर अपने ही हाथों अपने लिये कब्र खोदनेमें लग जाता है। इन दोषपूर्ण विचारोंसे जिसके प्रति ये विचार आते हैं, उसकी तो हानि होती है, उससे भी अधिक विनाशात्मक हानि उसकी होती है, जिसके हृदयमें इस प्रकारके दुर्विचार तथा दुर्भाव स्थान पाते हैं। यह वस्तुतः शारीरिक आत्महत्यासे भी बढ़कर हानिकर पाप है, क्योंकि इससे आध्यात्मिक आत्महत्या होती है।

असली बात तो यह है कि मनुष्यका कोई शत्रु है ही नहीं। जिसने मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है, वह स्वयं ही अपना मित्र है तथा जिसके द्वारा मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त नहीं की जा सकी है एवं जो उनका गुलाम है, वह आप ही अपना शत्रु है।

संसारमें जो कुछ भी हमें फलरूपमें प्राप्त होता है, वह निश्चय ही हमारे द्वारा किये हुए अपने ही कर्मोंका फल है। बिना अपने प्रारब्ध-दोषके हमारा बुरा कोई कर ही नहीं सकता। हम कहीं किसीको हमारा अनिष्ट करते देखते हैं या मानते हैं तो यह हमारी भूल है। वह हमारे अनिष्ट करनेमें निमित्त बनकर या हमारे अनिष्टकी इच्छा करके अपने लिये अनिष्ट फलका बीज अवश्य बो देता है, पर हमारा अनिष्ट तो हमारे कर्मफलस्वरूप ही होता है। कर्मफलमें हमारा बुरा नहीं होना है तो कोई भी, किसी भी प्रयत्नसे हमारा बुरा नहीं कर सकता। इसलिये यदि कोई हमारा बुरा करना चाहता है तो वह वस्तुतः अपना

ही बुरा करता है और अपने-आप अपना अनिष्ट करनेवाला मूर्ख या पागल मनुष्य दयाका पात्र होता है—घृणा, द्वेषका नहीं। इसीलिये—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

—कहा गया है। संत-हृदय अपने दुःखसे द्रवित नहीं होता, पर-दुःखसे दुःखी होता है। इसीसे संत-हृदयको नवनीतसे भी अधिक विलक्षण कोमल बताया गया है—

निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

व्यक्तिगत ही नहीं, सामूहिक विरोधियोंके प्रति भी घृणा-द्वेषके विचार न रखकर दया और प्रेमके भाव रखने चाहिये। महान् विजेता लिंकनने ली (Lee) की सेनाके आत्मसमर्पण करनेपर अपने सेनापतिको आदेश दिया था कि वे वहाँके निवासियोंके साथ दया और प्रेमका ही व्यवहार करें।

हमारा किसीके द्वारा अनिष्ट हुआ है या हो रहा है—यह भ्रान्त धारणा हमारे मनमें उसके प्रति विरोध, घृणा, द्वेष उत्पन्न करके हमें प्रतिशोधमें प्रवृत्त करती है। यह प्रतिशोध-भावना अच्छे-अच्छे लोगोंमें बहुत दूरतक जाती है तथा जन्मान्तरोंमें भी साथ रहती है एवं नये-नये पाप-तापोंकी परम्परा चलाती रहती है। अतः इसको आने ही नहीं देना चाहिये, कहीं आ जाय तो तुरंत ही प्रेमकी प्रबल भावनासे इसको समूल नष्ट कर डालना चाहिये।

एक मनुष्यने हमें एक गाली दी, हमने उसको दो गालियाँ देकर अपनी प्रतिशोध-भावनाको चरितार्थ किया और उसमें नये द्वेष तथा प्रतिशोधभावको उत्पन्न करके पुष्ट कर दिया। यह अधिक बदला लेनेका अमंगल कार्य हुआ। एकके बदलेमें एक गाली देकर भी बदला ले लिया। हमने अपनेको सभ्य मानकर गाली नहीं दी, पर पुलिसमें रिपोर्ट करके या कोर्टमें नालिश करके उसका बदला लेनेका प्रयत्न

किया। अपनेको बहुत ही भला, सत्पुरुष मानकर हमने कोई कानूनी कार्रवाई तो नहीं की, परंतु यह कह दिया कि 'हम क्यों गालीके बदले गाली देकर अपनी जबान गन्दी करें तथा क्यों कानूनी कार्रवाई करके अपने समय, शक्ति तथा धनका अपव्यय करके वैर मोल लें। न्यायकारी ईश्वर सब देखते ही हैं, वे स्वयं ही इसको उचित दण्ड देंगे।' यों कहकर हमने न्यायकारी सर्वसमर्थ ईश्वरके दरबारमें नालिश कर दी। प्रतिशोध (बदला) लेनेकी भावनाने यहाँ भी पूरा काम किया।

इससे भी और आगे प्रतिशोधकी गुप्त भावनाका प्रकाश तब होता है, जब वर्षों बाद उस गाली देनेवालेपर कोई घोर विपत्ति आती है, उस समय हमारे मनमें प्रतिशोधका छिपा भाव प्रकट हो जाता है और मन-ही-मन हम कहते हैं—'देखो, भगवान् कितने न्यायकारी हैं! उसने हमें अमुक समय गाली दी थी, हमने तो कुछ भी बदलेमें नहीं किया, पर भगवान्ने आज उसे यह शिक्षा दे दी। अर्थात् उसपर यह विपत्ति हमें गाली देनेके फलस्वरूप ही आयी है।' इस प्रकार—चाहे उसपर वह विपत्ति किसी दूसरे कर्मके फलरूपमें आयी हो, पर हम उसे अपने प्रतिशोध-खातेमें खतियाकर पापके भागी बन जाते हैं।

इस उपर्युक्त विवेचनसे यह पता लगता है कि मनुष्यके हृदयमें प्रतिशोधके भाव छिपे रहकर उसे समयपर कैसे गिरा देते हैं।

अतएव परदोष-दर्शन, घृणा तथा द्वेष करके कभी भी मनमें प्रतिशोधके भावको न रहने दीजिये। घृणाके बदले प्रेम कीजिये, अनिष्टके बदले हित कीजिये, अपराधके बदले क्षमा कीजिये। कभी यह भय मत कीजिये कि आपकी इससे कभी कुछ भी हानि होगी।

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥

भगवान्ने कहा—'प्रिय अर्जुन! मंगलकर्म करनेवाला कोई भी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।' साथ ही यह भी मत सोचिये कि आपका

सत्-प्रयत्न व्यर्थ होगा। वरं आपके सद्विचार तथा सद्भाव समस्त वातावरणमें फैलकर आपके हृदयमें तथा आपसे विरोध रखनेवालेके हृदयमें भी पवित्रता, मैत्री तथा शान्तिका विस्तार करेंगे।

आप किसी शत्रुको मित्र बनाना चाहते हैं तो उसके गुण देखकर उसकी सच्ची प्रशंसा कीजिये, उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित कीजिये तथा उसके हितका, उसकी भलाईका शुभ आरम्भ कर दीजिये। उस प्रसंगको ही भूल जाइये, जिसके कारण आपके मनमें उसके प्रति विरोधी भाव उत्पन्न हुए थे। आप अपनी शुभ भावनासे उसके हृदयको निर्मल रूपमें देखिये, उसके हृदयमें सदा विराजित भगवान्‌के मंगलमय दर्शन कीजिये और मन-ही-मन सदा उसको नमन कीजिये।

सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को सौंप दो

श्रीमद्भागवतमें नारदजीके वचन हैं कि 'जितनेसे अपना पेट भरे, उतनेहीपर मनुष्यका अधिकार है। जो इससे अधिकपर अपना अधिकार मानता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिये।'

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भा० ७। १४। ८)

भगवान्‌ने स्वयं गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३। १३)

'यज्ञसे—प्राणिमात्रकी सेवासे बचे हुए अन्नको खानेवाले सज्जन पुरुष समस्त पापोंसे छूट जाते हैं और जो पापात्मा अपने लिये ही पकाते हैं वे 'पाप' खाते हैं।'

इससे यह सिद्ध है और यही उचित भी है कि हमारे पास जो कुछ है या हम जो कुछ भी कमाते हैं, वह केवल हमारे अपने लिये ही नहीं है, सबके लिये है। उसमेंसे हमारा उतनेपर ही हक है, जितनेसे दूसरोंकी तरह ही हमारा जीवन-निर्वाह हो सके। हम स्वयं बहुत शान-शौकतसे रहें, बहुत कीमती कपड़े पहनें, विशाल तथा सुसज्जित महलोंमें रहें, बढ़िया-बढ़िया मखमली गद्दोंपर सोयें, तेल, साबुन, पाउडर, क्रीममें पैसे लगायें, विलासितामें भी प्रचुर धन व्यय करें, खाने-पीनेमें जीभके स्वादके लिये पचासों प्रकारके पदार्थोंमें धन व्यय

करें, खेल-तमाशोंमें, आडम्बरमें एवं अपनी व्यर्थ तथा अनर्थमयी इच्छाओं—वासनाओं और आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये अनाप-शनाप पैसे खर्च करें और उधर हमारे ही जैसे हाथ-पैर-मन-बुद्धिवाले नर-नारी पेटभर अन्नके बिना तड़पते रहें, लाज ढकने तथा सर्दी-गरमीसे बचनेके लिये कपड़ा न पायें, रहनेके लिये छायाका अभाव अनुभव करें, बिछाने-ओढ़नेके लिये टाट भी न प्राप्त कर सकें, रोगी बच्चोंतकके लिये दवा-पथ्यका प्रबन्ध न कर सकें, और निरन्तर अभावकी आगमें जलते रहें। यह सर्वथा पाप है। दुःखियोंकी ओर ध्यान न देकर अपनी स्वार्थपरतामें लगे रहनेवाले ऐसे ही लोगोंको भागवतने 'चोर' और गीताने 'पाप खानेवाले' बताया है। वास्तवमें यह आसुरी-राक्षसी सम्पत्तिका एक जीता-जागता स्वरूप है।

अभी देशमें जगह-जगह बाढ़ आयी। लाखों घर बह गये। करोड़ोंकी खेती नष्ट हो गयी। हजारों जानें गयीं। असंख्य पशु-धनका विनाश हुआ। बाढ़पीड़ित लाखों हमारे ही-जैसे मन-बुद्धि-शरीरवाले नर-नारियों, वृद्ध-बालकोंको दाने-दानेके लिये तरसना पड़ा। अवश्य ही सरकारने तथा उदार दयालु सज्जनोंने, अनेकों संस्थाओंने उनकी सहायताके लिये तन-मन-धनका सदुपयोग किया तथा कर रहे हैं। तथापि हमारे मनमें जितनी और जैसी समवेदना तथा पीड़ा होनी चाहिये, उतनी और वैसी नहीं हो पायी। हममेंसे कुछने उनपर दया की, दयालुताके अभिमानकी रक्षा और वृद्धि की। पर यह नहीं हुआ कि हमने अपनी विलासिताके व्ययको घटाकर बचाये हुए सब पैसोंको स्वाभाविक ही उनकी सेवामें लगा दिया हो।

मनुष्यका कर्तव्य तो यह है कि एक बाढ़के समय ही क्यों, सदा-सर्वदा ही वह अपने लिये कंजूस और दूसरोंके लिये उदार रहे। स्वयं खूब सादगीसे रहे—उसकी अपनी आवश्यकता कम-से-कम हो और

दूसरोंकी आवश्यकताकी वह उदारतापूर्वक पूर्ति करता रहे। असल बात यह है कि हमारे पास जो कुछ भी धन, वैभव, पदार्थ, मन, बुद्धि तथा अन्यान्य साधन-सामग्री है—सब भगवान्‌की है, हम तो सेवक-मात्र हैं। जब जहाँ जिस-किसी वस्तुका अभाव होता है, तब वहाँ भगवान् ही हमसे, यदि वह वस्तु हमारे पास है, तो अपनी उस वस्तुको अभावग्रस्तके रूपमें माँगते हैं। जहाँ अन्नका अभाव है वहाँ वे अन्न माँगते हैं, जहाँ वस्त्रका अभाव है वहाँ वस्त्र माँगते हैं। हमें उचित है कि ऐसे अवसरपर हम बिना किसी अभिमानके नम्रतापूर्वक भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌की सेवामें ईमानदारीसे समर्पण करते रहें और इसमें अपना परम सौभाग्य समझें।

अपनी आवश्यकताको बहुत बढ़ाकर तथा झूठी शान दिखानेके लिये बहुत अधिक खर्च करनेवाले लोग यदि विचारपूर्वक अपनी आवश्यकता कम कर लें और सादगी अपना लें तो उस बची हुई रकमसे आसानीके साथ बहुत सेवा हो सकती है। जैसे एक धनी आदमी पाँच सौ रुपयेका कोट पहनता है, वह यदि बीस रुपयेका कोट पहनकर चार सौ अस्सी रुपये बचा ले और उनसे दस-दस रुपयेके अड़तालीस कोट अड़तालीस व्यक्तियोंको दे दे तो एकके बदले उनचासका तन ढक सकता है। इसी प्रकार पाँच सौ रुपयेकी साड़ी पहननेवाली अमीर बहिन स्वयं बीस रुपयेकी साड़ी पहन लें और शेष चार सौ अस्सी रुपयोंसे पाँच-पाँच रुपयेकी छियानबे साड़ी छियानबे गरीब बहिनोंको दे दें तो एकके बदले सत्तानबेको साड़ी मिल जाती है। इसी प्रकार अनावश्यक मिथ्या आवश्यकता और झूठी शानके बहुत-से खर्च घटाये जा सकते हैं और उन पैसोंसे दूसरोंकी आवश्यकता पूरी की जा सकती है। इससे अपनी विलासिताकी, फिजूलखर्चीकी तथा शानसे रहनेकी बुरी आदत छूटेगी, जीवन सुखी रहेगा और

अनायास ही भगवान्‌की सेवा बनेगी। ऊँचा स्तर अधिक खर्च लगाकर शानसे रहनेमें नहीं है, ऊँचा स्तर है—हृदयकी विशालतामें। जो हृदय सबकी सेवाके लिये—सबके सुख-हितके लिये सदा ललचाता रहता है और अपना सब कुछ देकर प्रसन्नताका अनुभव करता है, वही हृदय विशाल है और यही जीवनका उच्च स्तर है।

याद रखना चाहिये—संसारके ये धनादि साधन रहेंगे नहीं, ये तो छूटेंगे ही। अतएव इनको अभावग्रस्त भाई-बहिनोंकी सेवाके द्वारा भगवान्‌की सेवामें लगाकर सार्थक कर लेना चाहिये।

ग्रहोंके प्रकोपसे बचनेका भी यह एक परम साधन है। यह नियम है कि थोड़ेसे बीजसे बहुत फल प्राप्त होनेके न्यायसे हम दूसरोंके लिये जो देंगे, वही हमें अनन्तगुना होकर वापस मिल जायगा। हम दूसरोंको विपत्तिसे बचायेंगे तो भगवान् हमें घोर विपत्तिसे बचायेंगे।

भगवान् श्रीसीतारामजीका ध्यान

कोसलेन्द्रपदकंजमंजुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ।
जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृंगसंगिनौ॥

सब लोग सावधानीके साथ एक चित्तसे श्रीअवधमें चले चलिये। बड़ा सुन्दर रमणीय श्रीअवधधाम है। चक्रवर्ती महाराज अखिल भुवनमण्डलके एकच्छत्र सम्राट् भगवान् श्रीराघवेन्द्रजीकी बड़ी रमणीय पुरी है। रामराज्यकी सब प्रकारकी शोभा, रामराज्यकी आदर्श समाज-व्यवस्था श्रीअवधमें वर्तमान है। सभी ओर सब कुछ सुशोभन है। कलुष-नाशिनी श्रीसरयूजी मन्द-मन्द वेगसे बह रही हैं। श्रीसरयूजीके तटपर श्रीराघवेन्द्रका विहार-उद्यान है। फलों और पुष्पोंसे सुसज्जित बड़ा सुन्दर बगीचा है। बगीचेमें चारों ओर बड़े सुन्दर और मनोहर पुष्पोंसे सुशोभित वृक्ष हैं। उनमें भाँति-भाँतिके पुष्प खिले हुए हैं। उनके विविध प्रकारके सौरभसे सारा उद्यान सुरभित हो रहा है। पुष्पोंपर भौंरे मँडरा रहे हैं। पुष्पोंकी रंग-बिरंगी शोभासे सभी ओर सुषमा छा रही है। फलोंके वृक्ष विविध फलोंके भारसे लदे हैं। बीचमें एक बड़ा मनोहर सरोवर है। सरोवरमें कमल खिले हुए हैं। सरोवरके भीतर जलपक्षी केलि कर रहे हैं। चारों ओर सुन्दर-सुन्दर घाट हैं। सरोवरके उत्तर ओर एक बड़ा सुन्दर कल्पवृक्ष है। सघन और फैला हुआ है। कल्पवृक्षके नीचे बहुत बढ़िया स्फटिकमणिका सिंहासन बना हुआ है। चारों ओर विविध पुष्पोंकी लताएँ बिखरी हुई हैं। उनमें विविध भाँतिके सुन्दर सुरभित फूल खिले हुए हैं। संध्याका समय है। बड़ा सुन्दर और सुगन्धित मन्द-मन्द समीर बह रहा है। इस मनोहर पुष्पोद्यानमें श्रीराघवेन्द्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजी और अखिल जगत्की जननी

श्रीजानकीजी नित्य संध्याके समय पधारा करते हैं। उस समय उनके साथ कोई सेवक नहीं रहता है, केवल श्रीहनुमान्‌जी साथ रहते हैं।

आज भी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपनी सारी सुषमाके साथ— समस्त शोभाओंसे सुशोभित, सौन्दर्य-माधुर्यमण्डित विश्वजननी श्रीजनकनन्दिनीके साथ पधारे हैं। भगवान् बड़ी मन्द गतिसे धीरे-धीरे सरोवरके निकट चले आते हैं। पीछे-पीछे श्रीहनुमान्‌जी हैं। श्रीभगवान् उत्तर तटकी ओर पधारे हैं। सुन्दर वितानवाले कल्पवृक्षके नीचे स्फटिकमणिकी मनोहर एक पीठिका है। उस स्फटिकमणिके सुन्दर सिंहासनपर बहुत ही बढ़िया और सुकोमल दूर्वाके रंगका एक गलीचा बिछा हुआ है, उसके पीछे दो तकिये लगे हुए हैं, दोनों ओर दो सुन्दर मसनद हैं। चौकीके सामने नीचेकी ओर चरण रखनेके लिये दो पादपीठ सुसज्जित हैं। उनपर दो सुन्दर कोमल गद्दी बिछी हुई हैं। सामने बायीं ओर थोड़ी दूरपर मरकतमणिकी नीची चौकीपर श्रीहनुमान्‌जीके लिये आसन है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी श्रीजनकनन्दिनीजीके साथ गलीचेवाले स्फटिकमणिके सिंहासनपर विराजमान हो गये हैं। श्रीहनुमान्‌जी सामने बैठ गये हैं। भगवान् श्रीरामके नेत्रोंकी ओर किसी आज्ञाकी प्रतीक्षामें टकटकी लगाकर देखने लगते हैं। भगवान् श्रीरामका बड़ा सुन्दर स्वरूप है। भगवान्‌के श्रीअंगका वर्ण नील-हरिताभ-उज्ज्वल है—'नीला, नीलेमें कुछ हरी आभा, उसपर उज्ज्वल प्रकाश।......... **केकीकण्ठाभनीलम्**' जैसा मयूरके कण्ठकी नीलिमामें हरित आभा होती है.........चमकता रंग होता है। इस प्रकार श्रीभगवान्‌के अंगका रंग नील-हरिताभ-उज्ज्वल है। बड़ी ही सुन्दर आभा है— दिव्य चमकता प्रकाश। भगवान्‌के श्रीअंगका वर्णन आता है—

'नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।'

नीले सुन्दर कमलके समान भगवान्‌के कोमल अंग हैं, नीलमणिके समान अत्यन्त चिकने और चमकते हुए अंग हैं, नव-नील-नीरद—

जलवाले बादलोंके समान सरस अंग हैं। सरसता, सुकोमलता और सुचिक्कणता बड़े प्रकाशके साथ सुशोभित हैं। एक-एक अंग इतने मनोहर, मधुर और आकर्षक हैं कि करोड़ों कामदेव एक-एक अंगपर निछावर हो रहे हैं। इनकी उपमा कही नहीं जा सकती है। शोभा अतुलनीय और निरुपम है। श्रीभगवान्‌के अंग-अंगसे मनोहर सुस्निग्ध ज्योति निकल रही है। सहस्रों, लक्षों, कोटि-कोटि सूर्यका प्रकाश है······· पर उसमें तनिक भी उत्ताप नहीं है, दाहकता नहीं है। करोड़ों चन्द्रमाकी शीतलता साथ लिये हुए है। सूर्यकी तीव्र प्रकाशमयी उष्णता और चन्द्रमाकी सुधावर्षिणी ज्योत्स्नामयी शीतलताका समन्वय—दोनोंका एक ही समय, एक ही साथ रहना कैसा होता है, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। श्रीभगवान्‌के रोम-रोमसे एक प्रकारकी दिव्य ज्योति निकल रही है, जो अपनी आभासे समस्त प्रदेशको ज्योतिर्मय बनाये हुए है। भगवान्‌ने ज्योतिर्मय पीतोज्ज्वल रंगका दिव्य वस्त्र परिधान किया है, उसमें लाल पाड़ है। पाड़की लालिमा भी उज्ज्वल प्रकाशमयी है। उस वस्त्रके सुन्दर स्वर्णमय प्रकाशके भीतरसे नील-हरिताभ-अंग-ज्योति निकल-निकलकर एक विचित्र-विलक्षण रंगवाली आभा बन गयी है। नील-हरिताभ-उज्ज्वल ज्योतिके साथ-साथ भगवान्‌के स्वर्णवर्ण पीताम्बरकी पीताभ ज्योति मिलकर एक विचित्र वर्णवाली ज्योति बन गयी है, जिसे देखकर चित्त मुग्ध हो जाता है। उसको देखते ही बनता है। भगवान्‌की पीठपर गलेसे आता हुआ एक दुपट्टा लहरा रहा है, उसका स्वर्ण-अरुण वर्ण है। भगवान्‌के श्रीचरण बड़े सुन्दर, सुकोमल और अत्यन्त मनोहर हैं। श्रीभगवान्‌का वाम श्रीचरण नीचेकी पादपीठपर टिका है। दक्षिण श्रीचरणको भगवान् श्रीराघवेन्द्रने अपनी वाम जंघापर रखा है, जिसका तल जगज्जननी जानकीजीकी ओर है। भगवान्‌के श्रीचरण-तल बड़े मनोहर और सुन्दर हैं, उनमें ध्वजा, वज्र, कमल आदिकी अति सुन्दर

रेखाएँ स्पष्ट हैं। चरण-तल सुकोमल अरुणाभ हैं, उनमें लाल-लाल ज्योति निकल रही है। भगवान्‌के श्रीचरणोंकी अंगुलियाँ, जो एक-से-एक छोटी अंगुलीसे अँगूठेतक उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त हो रही हैं, परम सुशोभित हैं। भगवान्‌के श्रीचरणोंसे एक ज्योति निकल रही है, चरणतलसे ज्योति निकल रही है, चरण-नखसे विद्युत्‌की तरह सुस्निग्ध मनोहर ज्योति निकल रही है, बड़ी सुन्दर प्रकाशमयी है; उसकी ज्योति-किरण जिस-जिसके समीप जाती है, उसी-उसीमें ब्रह्मज्ञानका उदय हो जाता है। यह उनकी चरण-कमल-प्रभाका सहज प्रसाद है। भगवान्‌के श्रीचरणोंमें नूपुर हैं। जाँघ और घुटने बड़े सुन्दर हैं। जाँघ बड़ी सुकोमल बड़ी स्निग्ध, सुचिक्कण और अत्यन्त शोभामयी है। भगवान्‌की कटि अति सुन्दर है, भगवान्‌ने उसमें रत्नोंकी—दिव्य रत्नोंकी—दिव्य स्वर्णकी करधनी पहनी है, उस करधनीमें नवीन-नवीन प्रकारके छोटे-बड़े मुक्ता लटक रहे हैं, बीच-बीचमें—मुक्ताओंके बीचमें मधुर ध्वनि करनेवाली घुँघुरियाँ लगी हैं। भगवान्‌का उदरदेश बड़ा सुन्दर है; गम्भीर नाभि है, उदरमें तीन रेखाएँ हैं। भगवान्‌का वक्षःस्थल बड़ा चौड़ा है, विशाल है। वक्षःस्थलमें बायीं ओर भृगुलताका चिह्न है, दाहिनी ओर पीत-केशरवर्णकी मनोहर रेखा है—श्रीवत्सका चिह्न है। भगवान्‌के विशाल वक्षःस्थलपर अनेक प्रकारके आभूषण सुशोभित हैं, गलेमें पहनी हुई रत्नमाला है, मुक्तामणिके हार हैं, कौस्तुभमणि है। राजोद्यानके सुन्दर-सुन्दर विचित्र पुष्पोंकी माला है, पुष्पोंका हार है, जो सारे वक्षःस्थलको आच्छादित करते हुए नाभिदेशतक लटक रहा है। कटितटतक नीचे पुष्पहारसे सुगन्ध निकल रही है, उस पुष्पहारपर भ्रमर मँडराते हैं, मधुर गुंजार कर रहे हैं। भगवान्‌के कंधे बड़े मजबूत.......सुदृढ़ बड़े ऊँचे हैं—केहरिकंध—सिंहके समान कंधे हैं। भगवान्‌की विशाल बाहु हैं—आजानुबाहु हैं, भुजाएँ घुटनोंतक लम्बी हैं। ऊपर मोटी—हाथीकी सूँड़की तरह नीचे

पतली हैं। इतनी सुडौल और सुन्दर हैं कि देखते ही चित्त मुग्ध हो जाता है। वे भुजाएँ सारे जगत्की रक्षाके लिये, साधु-रक्षा और असाधुके विनाशके लिये नित्य प्रस्तुत हैं। विशाल बाहुमें बाजूबंद हैं, उनमें नीलम, पन्ना और हीरे जड़े हुए हैं। उन दोनों बाजूबंदोंके बीचमें एक-एक लड़ लटक रही है, लड़में बड़े सुन्दर महामूल्यवान् रत्न जड़े हुए हैं। भगवान्के पहुँचोंमें रत्नोंके कड़े हैं, उनसे ज्योति निकल रही है। भगवान्के करकमलोंकी अंगुलियोंमें रत्नोंकी अँगूठियाँ सुशोभित हैं, जो एक-से विचित्र हैं। भगवान्के श्रीअंगका वर्ण नील-हरिताभ-उज्ज्वल है, पीताम्बरका वर्ण स्वर्ण-शुभ्र उज्ज्वल है। भगवान्के विविध आभूषणोंके भाँति-भाँतिके रत्न अलग-अलग वर्णोंकी आभा बिखेर रहे हैं, भगवान्के चारों ओर मिलकर विचित्र ज्योति छिटक रही है, विलक्षण शोभा हो रही है, मनुष्य न तो कुछ कह सकता है, न वर्णन कर सकता है। कम्बुकण्ठ है—गलेमें रेखाएँ हैं। भगवान्की बड़ी सुन्दर ठोड़ी है। अधरोष्ठ अरुण वर्णका है, मनोहर स्वाभाविक मन्द-मन्द उनकी मुसकान है। मन्द हास्य सबको विमोहित कर रहा है। दन्तपंक्ति बड़ी ही सुन्दर है, मानो हीरे चमक रहे हैं, उज्ज्वलता है, ज्योति निकल रही है और अरुण अधरोष्ठपर पड़कर विचित्र शोभा उत्पन्न कर रही है। भगवान्के सुन्दर सुचिक्कण कपोल हैं। उनकी नुकीली नासिका है। भगवान्के दोनों कान बड़े मनोहर हैं, उनमें मछलीकी आकृतिके बड़े सुन्दर रत्नोंके कुण्डल चमचमा रहे हैं। भगवान्के नेत्र बहुत बड़े हैं, बहुत विशाल हैं। भगवान्के नेत्रोंसे कृपा, शान्ति और आनन्दकी धारा अनवरत निकल रही है। भगवान्की सुन्दर नेत्र-ज्योति है। मनोहर टेढ़ी भृकुटि है, जो मुनियोंके मनको हर लेती है। जिन्होंने एक बार दर्शन किया, वे सारे साधन भूलकर, जीवन भूलकर भगवान्के श्रीचरण-प्रान्तमें निरन्तर निवास करनेका मनोरथ करते हैं। भगवान्का विशाल ललाट है, उसपर तिलक सुशोभित है,

दोनों ओर श्वेत रेखा है और बीचमें लाल रेखा है, इस प्रकार भगवान्के ललाटपर तिलक है। उनका विशाल भाल है, मस्तकपर काले-काले घुँघराले केश हैं, मानो अगणित भ्रमर मँडरा रहे हैं। भगवान्की मनोहर अलकावली मुनियोंके मनको हरनेवाली है। उनके मस्तकपर सुन्दर रत्नोज्ज्वल किरीट है, इतना चमकता है, इतना बढ़िया है, उसमें इतने रत्न जड़े हैं कि उसकी शोभाका वर्णन नहीं किया जा सकता, इतना हलका और पुष्प-सा कोमल है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। भगवान्के वस्त्र-आभूषण—सब-के-सब दिव्य हैं, चेतन हैं। भगवान् श्रीराघवेन्द्रके दाहिने कंधेपर धनुष है, बायें हाथमें बाण सुशोभित है, पीछे कटिमें बाणोंका भाथा बँधा हुआ है। भगवान् दाहिने हाथमें सुन्दर पुष्प लिये हुए हैं, रक्त-कमलका सुन्दर सुशोभित पुष्प है—बड़ा मधुर सुगन्धयुक्त, छोटा-सा अनेक दलोंका कमल है, उसकी नालको पकड़े घुमा रहे हैं। इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र कल्पवृक्षके नीचे स्फटिकमणिके सिंहासनपर हरिताभ गलीचेपर विराजमान हैं।

वाम-पार्श्वमें श्रीजनकनन्दिनीजी विराजमान हैं। उनके दोनों अति कोमल श्रीचरणकमल नीचेकी पादपीठपर विराजित हैं। उनका पवित्र सुन्दर स्वर्णोज्ज्वल वर्ण है, सोनेके समान वदनकी आभा है, पर सोनेकी भाँति कठोर नहीं है। सोनेकी भाँति चमचमाते हुए माताजीके समस्त अंग अत्यन्त सुकोमल और तेजसे युक्त हैं। करोडों सूर्य-चन्द्रकी शीतल प्रकाशमयी उज्ज्वल ज्योतिधारा उनके श्रीअंगसे वैसे ही निकल रही है, जैसे भगवान् श्रीरामके श्रीअंगसे। श्रीसीताजी विविध भूषणोंसे सज्जित हैं, नीलवर्णके वस्त्र हैं, वक्षःस्थलपर आभूषण हैं, बायें हाथमें पुष्प है, दाहिने हाथसे कर्णकुण्डलको सुधार रही हैं, जंघापर रखे भगवान्के श्रीचरणतलकी ओर जनकनन्दिनीके दिव्य नेत्र लगे हैं—पलक नहीं पड़ती है, वे श्रीरामके चरणतलके दर्शनानन्दमें विभोर हैं, दूसरी ओर उनका दृष्टिपात ही नहीं है। भगवान्की नील-

हरिताभ-उज्ज्वल आभावाली ज्योति नित्य नयी छटा दिखा रही है। उसके साथ श्रीजनकनन्दिनीजीकी स्वर्णिम अंग-ज्योति, उनके नीलवस्त्रकी ज्योति, आभूषणोंकी ज्योति—सब मिलकर एक विचित्र वर्णवाली ज्योति चारों ओर छिटक रही है। उसकी शोभा अवर्णनीय है।

सामने बायीं ओर थोड़ी दूरपर नीचे मरकतमणिके आसनपर श्रीमारुतिजी विराजमान हैं। उनके श्रीअंगका पिंगल वर्ण है, जो उज्ज्वल आभासे युक्त है। लाल वस्त्र पहने हुए हैं, सब अंगोंपर श्रीरामनाम अंकित हैं, हृदयदेश मानो दर्पण है, उसमें स्फटिकमणिके सिंहासनपर विराजमान श्रीराम-जानकी प्रतिबिम्बित हैं। उनके नेत्रोंसे अविरत प्रेमाश्रुधारा बह रही है, टकटकी लगाये हुए हैं। श्रीरामके नेत्रकी कृपाधारामें नहाते अपने-आपको कृतकृत्य मान रहे हैं। शरीर रोमांचित है। मुखमण्डल ज्योतिसे झलमला रहा है। शरीर आनन्दसे पुलकित है, आनन्दका अनुभव करते हुए विशेष आज्ञाकी प्रतीक्षामें वे निर्निमेष नेत्रोंसे श्रीराघवेन्द्रकी ओर निहार रहे हैं।

इस प्रकार भगवान् श्रीराम-जानकी श्रीहनुमान्‌के साथ विहार-उद्यानमें विराजमान हैं। मन्द-मन्द समीर बह रहा है, समीप ही सरयूकी मन्द धारा है, अनेक प्रकारके पक्षी चहचहा रहे हैं, वनकी शोभा अत्यन्त मनोहर हो रही है। भगवान्‌का वह स्वरूप अत्यन्त मनोहर सुन्दर है, सुषमा वर्णनातीत है। कोई भी किसी कालमें वर्णन नहीं कर सकता, देखनेसे मन मुग्ध हो जाता है। ज्यों जब हृदयमें श्रीराम आते हैं, तब मारुतिकी तरह शीतल अश्रुधारा बहती है, शरीर रोमांचित हो जाता है। इस मनोहर ध्यानमें मग्न हो जाना चाहिये।

इस प्रकार भगवान् सामने हैं, उन्हें मनके द्वारा आप देख सकते हैं। तन्मयता होनेपर ध्यान हो सकता है। बड़ा सुन्दर ध्यान है। इसमें मन लग जाय तो क्या कहना है।

भगवान्‌का मंगल-विधान

(सत्य घटना)

[१]

पुरानी बात है—कलकत्तेमें सर कैलासचन्द्र वसु प्रसिद्ध डॉक्टर हो गये हैं। उनकी माता बीमार थीं। एक दिन श्रीवसु महोदयने देखा—माताकी बीमारी बढ़ गयी है, कब प्राण चले जायँ, कुछ पता नहीं। रात्रिका समय था। कैलास बाबूने बड़ी नम्रताके साथ माताजीसे पूछा—'माँ, तुम्हारे मनमें किसी चीजकी इच्छा हो तो बताओ, मैं उसे पूरी कर दूँ।' माता कुछ देर चुप रहकर बोलीं—'बेटा! उस दिन मैंने बंबईके अंजीर खाये थे। मेरी इच्छा है अंजीर मिल जायँ तो मैं खा लूँ।' उन दिनों कलकत्तेके बाजारमें हरे अंजीर नहीं मिलते थे। बंबईसे मँगानेमें समय अपेक्षित था। हवाई जहाज थे नहीं। रेलके मार्गसे भी आजकलकी अपेक्षा अधिक समय लगता था। कैलास बाबू बड़े दुःखी हो गये—माँने अन्तिम समयमें एक चीज माँगी और मैं माँकी उस माँगको पूरी नहीं कर सका, इससे बढ़कर मेरे लिये दुःखकी बात और क्या होगी? पर कुछ भी उपाय नहीं सूझा। रुपयोंसे मिलनेवाली चीज होती तो कोई बात ही नहीं थी। कलकत्ते या बंगालमें कहीं अंजीर होते नहीं, बाजारमें मिलते नहीं। बंबईसे आनेमें तीन दिन लगते हैं। टेलीफोन भी नहीं जो सूचना दे दें। तबतक पता नहीं—माताजी जीवित रहें या नहीं, अथवा जीवित भी रहें तो खा सकें या नहीं। कैलास बाबू निराश होकर पड़ गये और मन-ही-मन रोते हुए कहने

लगे—'हे भगवन्! क्या मैं इतना अभागा हूँ कि माँकी अन्तिम चाहको पूरी होते नहीं देखूँगा।'

रातके लगभग ग्यारह बजे किसीने दरवाजा खोलनेके लिये बाहरसे आवाज दी। डॉक्टर वसुने समझा, किसी रोगीके यहाँसे बुलावा आया होगा। उनका चित्त बहुत खिन्न था। उन्होंने कह दिया—'इस समय मैं नहीं जा सकूँगा।' बाहर खड़े आदमीने कहा—'मैं बुलाने नहीं आया हूँ, एक चीज लेकर आया हूँ—दरवाजा खोलिये।' दरवाजा खोला गया। सुन्दर टोकरी हाथमें लिये एक दरवानने भीतर आकर कहा—डॉक्टर साहेब! हमारे बाबूजी अभी बंबईसे आये हैं, वे सबेरे ही रंगून चले जायँगे, उन्होंने यह अंजीरकी टोकरी भेजी है, वे बंबईसे लाये हैं। मुझसे कहा है कि मैं सबेरे चला जाऊँगा—अभी अंजीर दे आओ। इसीलिये मैं अभी लेकर आ गया। कष्टके लिये क्षमा कीजियेगा।'

कैलास बाबू अंजीरका नाम सुनते ही उछल पड़े। उन्हें उस समय कितना और कैसा अभूतपूर्व आनन्द हुआ, इसका अनुमान कोई नहीं लगा सकता। उनकी आँखोंमें हर्षके आँसू आ गये, शरीरमें आनन्दसे रोमांच हो आया। अंजीरकी टोकरीको लेकर वे माताजीके पास पहुँचे और बोले—'माँ! लो—भगवान्‌ने अंजीर तुम्हारे लिये भेजे हैं।' उस समय माताका प्रसन्नमुख देखकर कैलास बाबू इतने प्रसन्न हुए मानो उन्हें जीवनका परम दुर्लभ महान् फल प्राप्त हो गया हो।

बात यह थी, एक गुजराती सज्जन जिनका फार्म कलकत्ते और रंगूनमें भी था, डॉक्टर कैलास बाबूके बड़े प्रेमी थे। वे जब-जब बंबईसे आते, तब अंजीर लाया करते थे। भगवान्‌के मंगल-विधानका आश्चर्य देखिये, कैलास बाबूकी मरणासन्न माता आज रातको अंजीर चाहती है और उसकी चाहको पूर्ण करनेकी व्यवस्था बंबईमें चार दिन पहले

ही हो जाती है और ठीक समयपर अंजीर कलकत्ते उनके पास आ पहुँचते हैं। एक दिन पीछे भी नहीं, पहले भी नहीं।*

(२)

पुरानी बात है। स्वर्गीय भाई कृष्णकान्तजी मालवीय नैनी जेलमें थे, उनको बस्ती स्थानान्तरित किया गया। श्रीकृष्णकान्तजी मुझे अपना भाई मानते थे। उनकी मेरे प्रति अकृत्रिम प्रीति तथा परम आत्मीयता थी। इससे उन्होंने गीताप्रेसके पतेसे मेरे नाम तार दिया कि 'हमलोग कई आदमी रेलसे गोरखपुर होकर बस्ती जा रहे हैं—गोरखपुर स्टेशनपर भोजनकी व्यवस्था कीजिये।' गोरखपुरमें उन दिनों संध्याको लगभग पाँच बजे ट्रेन पहुँचती थी। तार गीताप्रेसमें आया। उन लोगोंने कुछ भी व्यवस्था न करके तार मेरे पास एक साइकलवाले आदमीके हाथ भेज दिया, मैं प्रेससे लगभग साढ़े तीन मील दूर ऐसी जगह रहता थी, जहाँ उन दिनों इक्के, ताँगे कुछ भी नहीं मिलते थे। न मोटर थी, न टेलीफोन। वह आदमी लगभग पौने पाँच बजे मेरे पास पहुँचा। घरमें भोजनका सामान भी बनाया तैयार नहीं था। प्रेसके लोगोंपर मुझे झुँझलाहट हुई कि उन्होंने व्यवस्था न करके तार मेरे पास क्यों भेज दिया। स्टेशन यहाँसे तीन मील दूर है, सवारी पास नहीं, सामान तैयार नहीं। कुल पन्द्रह-बीस मिनटका समय ट्रेन आनेमें है। मेरे मनमें बड़ा खेद था—'भाई कृष्णकान्तजीको भोजन नहीं मिलेगा, वे क्या समझेंगे।' मैंने भगवान्‌को स्मरण किया।

इतनेमें देखता हूँ तो दो इक्के आकर बगीचेमें खड़े हो गये। साथ एक सज्जन थे। उन्होंने कहा, 'बाबू बालमुकुन्दजीके यहाँ प्रसाद था। उन्होंने आपके लिये भेजा है।' मैं जिस बगीचेमें रहता था, वह उन्हींका था, वे मेरे प्रति बड़ा स्नेह रखते थे। मैंने देखा—कई तरहकी मिठाई,

* डॉ० श्रीकैलासचन्द्र महोदयने यह घटना स्वयं मुझे सुनायी थी। बहुत दिनोंकी बात होनेसे लिखनेमें कहीं कुछ साधारण गलती भी रह सकती है।

पूरी, नमकीन, साग, अचार, सूखा मेवा, फल पर्याप्त मात्रामें हैं। मेरी प्रसन्नताका पार नहीं। मैंने मन-ही-मन कहा—भगवान्ने कैसी सुनी। उन्हीं इक्कोंको पूरे सामानसहित एक आदमी साथ देकर मैंने स्टेशन भेज दिया—कह दिया—जल्दी ले जाना, कहीं गाड़ी छूट न जाय। गाड़ी दस-पन्द्रह मिनट लेट आयी। सामान पहुँच गया। वे लोग एक दर्जनसे ज्यादा आदमी थे। सबने भरपेट भोजन किया। मेरा आदमी लौटकर आया, तबतक मुझे चिन्ता रही कहीं गाड़ी छूट तो नहीं गयी होगी ? आदमीने लौटकर सब समाचार सुनाया तो मेरे हृदयमें भगवान्के मंगल-विधानके प्रति महान् विश्वास हो गया। कैसा सुन्दर विधान है! मुझे जरूरत पौने पाँच बजे हुई, तार अभी मिला। परंतु उस जरूरतको पूरी करनेकी तैयारी कहीं बहुत पहले हो गयी और ठीक जरूरतके समयपर सामान पहुँच गया। सामान भी इतना कि जिससे इतने लोग तृप्त हो गये। मुझे तो पता भी नहीं था कि कितने आदमी खानेवाले हैं। इक्के भी साथ आ गये—जिससे सामान स्टेशनपर भेजा जा सका। ठीक समयपर सामान पहुँचा। एक घंटे बाद पहुँचता तब भी इस काममें नहीं आता और दो-एक घंटे पहले पहुँच गया होता तो उसे दूसरे काममें ले लिया जाता, इस कामके लिये नहीं बचता।

इससे सिद्ध होता है कि कोई ऐसी सदा जाग्रत् रहकर व्यवस्था करनेवाली अचिन्त्य महान् शक्ति है, जो आगे-से-आगे यथायोग्य व्यवस्था करती रहती है—और वही शक्ति जगत्का संचालन करती है। उसके मंगल-विधानके अनुसार सब कार्य सुव्यवस्थितरूपसे होते रहते हैं। जो स्थिति अब सामने आती है, उसकी तैयारी बहुत पहले हो जाती है। मनुष्य उस परम शक्तिपर विश्वास करके निश्चिन्त रह सके तो भगवान्की सेवाके भावसे सब कार्य करता हुआ भी वह सदा सुखी रह सकता है।

मोचीमें मनुष्यत्व

एक गरीब भूखे ब्राह्मणने किसी बड़े शहरमें ढाई पहर घर-घर धक्के खाये, परंतु उसे एक मुट्ठी चावल किसीने नहीं दिया। तब वह थक गया और निराश होकर रास्तेके एक किनारे बैठकर अपने भाग्यको कोसने लगा—'हाय! मैं कैसा अभागा हूँ कि इतने धनी शहरमें किसीने एक मुट्ठी चावल देकर मेरे प्राण नहीं बचाये।' इसी समय उसी रास्तेसे एक सौम्यमूर्ति साधु जा रहे थे, उनके कानोंमें ब्राह्मणकी करुण आवाज गयी और उन्होंने पास आकर पूछा—'क्यों भाई, यहाँ बैठे-बैठे तुम क्यों अपनेको कोस रहे हो?' दरिद्र ब्राह्मणने कातर कण्ठसे कहा—'बाबा! मैं बड़ा ही भाग्यहीन हूँ, सुबहसे ढाई पहर दिन चढ़ेतक मैं द्वार-द्वार भटकता रहा, कितने लोगोंके सामने हाथ फैलाया, रोया, गिड़गिड़ाया—परंतु किसीने हाथ उठाकर एक मुट्ठी भीख नहीं दी। बाबा! भूख-प्यासके मारे मेरा शरीर अत्यन्त थक गया है, अब मुझसे चला नहीं जाता। इससे यहाँ बैठा अपने भाग्यपर रो रहा हूँ।'

साधुने हँसकर कहा—'तुमने तो मनुष्यसे भीख माँगी ही नहीं, मनुष्यसे माँगते तो निश्चय ही भीख मिलती।' ब्राह्मणने चकित होकर कहा—'बाबा! तुम क्या कह रहे हो। मैंने दोनों आँखोंसे अच्छी तरह देखकर ही भीख माँगी है। सभी मनुष्य थे, पर किसीने मेरी कातर पुकार नहीं सुनी।'

साधु बोले—'मनुष्यके दुःखको देखकर जिसका हृदय नहीं पिघलता, वह कभी मनुष्य नहीं है, वह तो मनुष्य-देहधारी पशुमात्र है। तुम यह चश्मा ले जाओ, एक बार इसे आँखोंपर लगाकर भीख माँगो, मनुष्यसे भीख माँगते ही तुम्हारी आशा पूर्ण होगी—तुम्हें मनचाही वस्तु मिलेगी।' साधुने इतना कहकर एक चश्मा दिया और अपना रास्ता लिया।

ब्राह्मणने मन-ही-मन सोचा कि 'यह तो बड़ी आफत है, चश्मा लगाये बिना क्या मनुष्य भी नहीं दिखायी देगा? जो कुछ भी हो—साधुके आज्ञानुसार एक बार चश्मा लगाकर घूम तो आऊँ।' यह सोचकर ब्राह्मण चश्मा लगाकर भीखके लिये चला। तब उसे जो दृश्य दिखायी दिया, उसे देखकर तो उसकी बोलती बंद हो गयी और सिरपर हाथ रखकर वह एक बार तो बैठ गया। बिना चश्मेके जिन लोगोंको मनुष्य समझकर ब्राह्मणने भीख माँगी थी, अब चश्मा लगाते ही उनमें किसीका मुँह सियारका दिखायी देने लगा, किसीका कुत्ते या बिल्लीका और किसीका बंदर या बाघ-भालूका-सा। इस प्रकार उस शहरके घर-घरमें घूमकर वह संध्यासे कुछ पहले एक मैदानमें आ पहुँचा। वहाँ उसने देखा—पेड़के नीचे एक मोची फटे जूतेको सी रहा है। चश्मेसे देखनेपर उसका मुख आदमीका-सा दिखायी दिया। उसने कई बार चश्मा उतारकर और लगाकर देखा—ठीक मनुष्य ही नजर आया, तब उसको बड़ा आश्चर्य हुआ और वह मन-ही-मन सोचने लगा, 'मैं ब्राह्मण होकर फटे जूते गाँठनेवाले इस मोचीसे कैसे भीख मागूँ।' इतनेमें मोचीकी दृष्टि ब्राह्मणपर पड़ी और दृष्टि पड़ते ही उसने दोनों हाथ जोड़कर कहा—'महाराजजी! आप बड़े उदास और थके मालूम होते हैं—आपने अभीतक निश्चय ही कुछ खाया नहीं है। मैं अति दीन-हीन और नीच जाति हूँ। मेरी हिम्मत नहीं होती कि मैं आपसे कुछ प्रार्थना करूँ। पर यदि दया करके आप मेरे साथ चलें तो दिनभरमें जूते गाँठकर मैंने जो दो-चार पैसे कमाये हैं, उन्हें मैं पासके ही हलवाईकी दूकानपर दे देता हूँ, आप कृपा करके कुछ जलपान कर लेंगे तो आपको तनिक स्वस्थ देखकर इस कँगलेके हृदयमें आनन्द समायेगा नहीं।'

ब्राह्मणके प्राण भूख-प्यासके मारे छटपट कर रहे थे। मोचीकी सौजन्य और सहानुभूतिपूर्ण बात उन्होंने तुरंत मान ली। दोनों हलवाईकी दूकानपर पहुँचे। मोचीने अपना बटुआ झड़काया तो उसमेंसे पन्द्रह पैसे

निकले। मोचीने वे पैसे हलवाईके पास रखकर कहा, 'हलवाई दादा! इन पैसोंसे जितनी आ सके, उतनी मिठाई महाराजजीको तुरंत दे दो, उसे खाकर इनको जरा तो आराम मिले। मैं अभी आता हूँ।'

इतना कहकर परदुःखकातर मोची मुट्ठी बाँधकर घरकी तरफ दौड़ा और उसने मन-ही-मन विचार किया कि 'घरमें जो एक नया जूतेका जोड़ा बनाया रखा है, उसे अभी बेच दूँ और जितने पैसे मिलें, लाकर तुरंत इन ब्राह्मण महाराजको दे दूँ, तब मेरे मनको चैन पड़े।' वह तुरंत घर पहुँचा और जूतेका जोड़ा लेकर बाजारमें प्रधान चौराहेपर खड़ा हो गया। वहाँके राजा संध्याके समय जब घूमने जाते, तब प्रतिदिन अपनी पसंदका नया जूता खरीदकर पहनते। नित्य नये जूते खरीदकर लानेका काम मन्त्रीजीके जिम्मे था। मन्त्रीने कई जूते ले जाकर राजाको दिखाये, परंतु उनमेंसे कोई भी राजाके पसंद नहीं आया और न किसीका माप ही पैरमें ठीक बैठा। राजाने मन्त्रीको डाँटकर कहा कि 'मैं पाँच सौ रुपये दाम दूँगा। तुम जल्दी मेरी पसंद तथा ठीक मापके जूते लाओ। नहीं तो, मैं घूमने नहीं जा सकूँगा और वैसी हालतमें तुमको कठोर दण्ड दिया जायगा।' मन्त्री बेचारे भगवान्‌का नाम लेकर काँपते हुए फिर जूतेकी खोजमें निकले और चौराहेपर पहुँचते ही एक मोचीको सुन्दर नये जूते लिये खड़े देखा। जूते लेकर तुरंत मन्त्रीजी राजाके पास पहुँचे। मोचीको भी वे साथ ले आये थे। भगवान्‌की कृपासे यह जूता-जोड़ा राजाको बहुत ही पसंद आया और पैरोंमें तो ऐसा ठीक बैठा मानो पैरोंके माप देकर ही बनाया गया हो। राजाने प्रसन्न होकर मोचीको पाँच सौ रुपये जूतेका मूल्य और पाँच सौ रुपये इनाम—कुल एक हजार रुपये देनेका आदेश दिया। मोचीने आनन्दविह्वल होकर गद्‌गद स्वरोंमें कहा—'सरकार! जरा ठहरनेकी आज्ञा हो, मैं अभी आता हूँ, ये रुपये जिनको मिलने हैं उनको मैं तुरंत ले आता हूँ। सरकार! उन्हींके हाथमें रुपये दिला दीजियेगा।'

मोचीकी यह बात सुनकर राजाको बड़ा विस्मय हुआ और राजाने

पूछा—'ये जूते तो तुम्हारे अपने हाथके बनाये हैं, फिर तुम इनके दाम दूसरेको कैसे दिलवाना चाहते हो?'

'सरकार! मैंने इन जूतोंके दाम एक गरीब ब्राह्मणको देनेका संकल्प मनमें कर लिया था। तब मैं इनका मूल्य कैसे लेता? पूर्व जन्मोंके कितने पापोंके फलस्वरूप तो मुझे यह नीच कुलमें जन्म और नीच जीविका मिली है, फिर इस जन्ममें ब्राह्मणका हक छीन लूँगा तब तो नरकमें भी मुझे जगह नहीं मिलेगी।' इतना कहकर मोची दौड़कर हलवाईकी दूकानपर पहुँचा और हाथ जोड़कर ब्राह्मणसे बोला—'महाराजजी! दया करके एक बार मेरे साथ राजमहलमें चलिये।' ब्राह्मण उसके आत्मीयतापूर्ण व्यवहारसे आकर्षित होकर मन्त्रमुग्धकी तरह उसके पीछे चल पड़ा और राजाके सामने जा पहुँचा। तब मोचीने राजासे कहा—'सरकार! इन्हीं ब्राह्मणदेवताको जूतेका मूल्य दिलवानेका आदेश दिया जाय।' राजाने मन्त्रीको एक हजार रुपये ब्राह्मणको देनेकी आज्ञा दी और विस्मय तथा कौतूहलपूर्ण हृदयसे ब्राह्मणसे पूछा—'पण्डितजी! हमारी राजधानीमें इतने धनी-मानी लोगोंके होते हुए आपने इस मोचीसे भीख क्यों माँगी?' तब सरलहृदय ब्राह्मणने सारा प्रसंग सुनाकर चश्मा दिखलाया और राजासे कहा कि 'आप स्वयं चश्मा लगाकर सत्यकी परीक्षा कर लें।' राजाने चश्मा लगाकर सबसे पहले मन्त्रीके मुँहकी ओर देखा तो वह सियार दिखायी दिया। चारों तरफ देखा—कोई कुत्ता, कोई बिल्ली, कोई बंदर, कोई बकरी, कोई भेड़, कोई गधा और कोई बैल दिखायी दिया। चश्मा उतारकर देखा तो सभी मनुष्य दीख पड़े। तब राजाने अत्यन्त विस्मित होकर चश्मा मन्त्रीको दिया और कहा—'देखो मन्त्रीजी! चारों ओर पशु-ही-पशु दिखायी देते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है।' तब मन्त्रीने चश्मा लगाकर राजाके मुखकी ओर देखा तो एक बड़ा बाघ दीख पड़ा और चारों ओर दरबारी लोग भाँति-भाँतिके जानवर दीखे। तब राजाने एक दर्पण मँगाकर चश्मा लगाकर अपना मुख देखा और यों सभीको अपना-अपना मुँह दिखलाया।

परंतु चश्मा लगानेपर सभी लोगोंको मोचीका मुख आदमीका-सा ही दिखायी दिया। तब राजाने मोचीके चरणोंमें गिरकर कहा—'आजसे यह राज्य तुम्हारा हुआ; मैं राज्य, धन, ऐश्वर्य नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ—केवल तुम्हारे-जैसा उच्च और विशाल हृदय। मनुष्यका शरीर धारण करके यदि मनुष्यका-सा हृदय नहीं हुआ तो मनुष्यकी मूर्तिका क्या मूल्य है? मानव-जन्मकी क्या सार्थकता है?

मोचीने कहा—'सरकार! आप जो कुछ देना चाहते हों, इन ब्राह्मणदेवताको दीजिये। मैं दीन-हीन कंगाल राज्य लेकर क्या करूँगा।' वह दरिद्र ब्राह्मण सोचने लगा—'पता नहीं, मेरी कितने जन्मोंकी तपस्या है, जिसके फलस्वरूप आज इस मोचीरूपधारी विशालहृदय महाप्राण पुरुषके दर्शन और कृपा प्राप्त करनेका मुझे सौभाग्य मिला है।' यों विचारकर कृतज्ञ हृदयसे उसके चरणोंमें प्रणत होकर ब्राह्मणने कहा—'भाई मोची! मैं न तो राज्य चाहता हूँ और न देवत्व, न ब्रह्मत्व या समस्त विश्वका आधिपत्य ही चाहता हूँ। मैं तो चाहता हूँ तुम्हारे-जैसा मनुष्यत्व।'

मोचीको भावावेश हो गया और वह आकुल हृदयसे भगवान्‌के चरण-कमलोंका मधुर स्मरण करके अश्रुपूर्ण लोचन और प्रेमसे गद्‌गद कण्ठ होकर कहने लगा—'मेरे अनन्त करुणामय प्रभो! धन्य तुम्हारी करुणाको! मैंने केवल तुच्छ एक जोड़े जूतेका मूल्य ब्राह्मणको देनेका संकल्प किया था, इसीसे तुम मुझको इतना बढ़ा रहे हो, तुम्हारे चरणोंमें शरीर, मन, प्राण सर्वस्व समर्पण करके जगत्‌की सेवा कर सकनेपर तो तुम पता नहीं, कितना प्यार करते हो।'

यह कहकर मोची आँखोंसे आनन्दाश्रुकी वर्षा करता हुआ वहाँसे चुपचाप चल दिया। राजा और ब्राह्मण चकित दृष्टिसे उसकी ओर देखते रह गये।

विलक्षण भाव-जगत्

विषयी और साधकका जगत् अलग-अलग होता है। विषयी और साधकके पथ और लक्ष्य दोनोंमें ही बड़ी विभिन्नता है। विषयीका रुख संसारकी ओर होता है और साधकका रुख भगवान्‌की ओर।

शुद्ध विषयी भी भगवान्‌को भजते हैं। पर वे भजते हैं विषयकी कामनाको लेकर। इच्छित विषयको पानेके लिये वे सकामभावनासे भगवान्‌की आराधना करते हैं। उनकी उस आराधनामें प्रेरणा है विषय-प्राप्तिकी और उसका फल भी संसारके विषय ही होते हैं। भगवान् विषयीकी कामनाको भी पूरा करते हैं और आगे चलकर उसकी सकामताको हर भी लेते हैं। अतः किसी प्रकारसे भी भगवान्‌से संयोग होना—भगवान्‌की आराधनामें लगना तो अच्छा ही है; क्योंकि वह आराधना भी अन्तमें भगवत्प्राप्तिकी हेतु बन सकती है—**मद्भक्ता यान्ति मामपि।**

पर विषयी व्यक्ति साधक नहीं होता। विषयीकी चाहसे साधककी चाह सर्वथा विपरीत होती है। विषयीको सम्मान-धन प्रिय लगते हैं और वह उनकी कामना करता है, साधकको सम्मान-धन बुरे लगते हैं और वह उनका विषवत् त्याग करना चाहता है, विषयी जो चाहता है, उसीका साधक त्याग करता है। विषयी चाहता है विषय-सुख और साधक इसीसे दूर भागता है। अभिप्राय यह कि संसारके द्वन्द्वोंमें विषयी प्रिय मानकर जिसे चाहता है, उसीका साधक अप्रिय अनुभव करके त्याग करता है।

भगवान्‌को लोग अपनी-अपनी आँखोंसे देखते हैं। देखनेकी सबकी दृष्टि अपनी-अपनी है। श्रीकृष्णको कंसकी सभामें सबने अपनी-अपनी विभिन्न दृष्टिसे देखा। वे मल्लोंको वज्रके रूपमें, साधारण मनुष्योंको नरश्रेष्ठ, रमणियोंको मूर्तिमान् मदन, गोपोंको स्वजन, असन्तोंको दण्डदाता, वसुदेव-देवकीको बच्चे, कंसको साक्षात् मृत्यु, विद्वानोंको विराट्, योगियोंको

परतत्त्व और वृष्णियोंको परमदेवताके रूपमें दिखायी दिये। इसी तरह विषयी और साधकको भगवान् अलग-अलग दिखलायी देते हैं। विषयीके लिये भगवान् साधन हैं और साधकके लिये भगवान् साध्य हैं। कामी भगवान्‌से सुख लेना चाहता है और प्रेमी भगवान्‌को सुख देना चाहता है।

साधकोंकी दो श्रेणियाँ हैं, इनके दो प्रधान भेद हैं। एक मुक्तिकामी और दूसरे प्रेमी। एकमें अहंके मंगलकी कामना है और दूसरेमें अहंकी सर्वथा विस्मृति है।

मुक्तिका अर्थ है—छुटकारा। बन्धनके अभावमें छुटकारेका कोई अर्थ नहीं, कोई स्वारस्य नहीं। अतः मुक्ति चाहनेवाला किसी बन्धनमें है, जिससे छुटकारा चाहता है। मुमुक्षुमात्र, कहीं भी हो, कैसा भी हो, कभी भी हो, बन्धनसे छूटना चाहता है। जितनी तीव्र लालसा होगी, छुटकारा पानेकी जितनी उत्कट उत्कण्ठा होगी, उतनी ही उसकी मुमुक्षा— मोक्षकी इच्छा मुख्य तथा अनन्य होगी और उतनी ही जल्दी उसे स्वरूपकी प्राप्ति होगी। अतः जो बन्धनसे मुक्ति चाहता है वह मुक्तिकामी है। अहं बन्धनमें है। मुक्तिकामी बन्धनसे मुक्त होकर अपने अहंका मंगल चाहता है। यह ज्ञानकी साधना है और बड़ी ऊँची साधना है। षट्-सम्पत्तिकी प्राप्तिके बाद मुमुक्षुत्वकी जागृति होती है और फिर आत्मसाक्षात्कार स्वरूपकी प्राप्ति।

दूसरा वर्ग प्रेमी साधकोंका है। ज्ञानोत्तर कालमें और सीधे भी यह स्थिति प्राप्त हो सकती है। प्रेमी साधक मुक्ति नहीं चाहता, पर वह संसारके बन्धनमें भी नहीं रहता। जगत्‌के बन्धनसे मुक्त ही भगवत्प्रेमी होता है। उसके पवित्र प्रेमके एक झटकेमें ही सारे बन्धन सदाके लिये टूट जाते हैं। फिर भी वह बन्धनमें रहता है। उसका यह बन्धन है—प्रेमका बन्धन, जो नित्य मुक्तस्वरूप भगवान्‌को उसके साथ बाँधे रखता है।

भगवान् विरुद्ध गुण-धर्माश्रयी हैं। उनमें युगपत् विरोधी धर्मगुण हैं। वे निराकार होकर भी साकार हैं। कठोर होकर भी अत्यन्त कोमल हैं। अजन्मा-अविनाशी होते हुए भी जन्म लेते और अप्रकट होते हैं। व्रजसे जाकर भी व्रजसे बाहर नहीं गये। भगवान्‌के सिवा ऐसा कोई नहीं है,

जिसमें एक साथ विरुद्ध गुण-धर्म रहते हों। इसी तरह भगवान्‌के प्रेमी भी विरुद्ध गुण-धर्माश्रयी होते हैं। वे नित्य मुक्त होकर भी नित्य बन्धनमें रहते हैं और उस बन्धनसे कभी छूटना नहीं चाहते।

प्रेमीको किसी प्रकारका सांसारिक बन्धन नहीं है। जो संसारके किसी प्रकारके बन्धनमें है, वह प्रेमी नहीं। जो संसारके भोगोंके साथ-साथ पवित्र भगवत्प्रेम प्राप्त करना चाहते हैं, वे भूलमें हैं, भ्रममें हैं। प्रेम-पथपर पैर रखते ही सारा संसार समाप्त हो जाता है। सारी सांसारिक कामनाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, फिर सांसारिक बन्धन कैसा? प्रेमीके एकमात्र बन्धन भगवान्‌का है। प्रेमी भगवान्‌के साथ प्रेम-रज्जुसे बँध जाता है। भगवान् नित्य मुक्त हैं, भगवान्‌में बन्धनकी कल्पना नहीं, वे भगवान् स्वयं लालसायुक्त होकर प्रेमीके बन्धनमें रहते हैं। उस बन्धनमें सुखस्वरूप भगवान्‌को सुख मिलता है। यह सुखस्वरूपका सुख-विलास है। यह प्रेमका बन्धन नित्य, असीम और अनन्त है।

इस प्रेमके अनेक स्तर हैं, अनेक स्वरूप हैं। प्रेमीमें एक पवित्र विलक्षण प्रेम-जगत् लहराता रहता है। वह बड़ा विचित्र है। इस प्रेम-जगत्‌का जो नित्य मिलन है— वह है सर्वथा भावमय।

यह 'भाव' भावनामय—कल्पनामय नहीं है, ध्यानजनित ध्येयाकार वृत्ति जगत् नहीं है, अज्ञानमें स्थित कोई वस्तु नहीं है, पांचभौतिक नहीं है, क्रियाशून्यता नहीं है। इसका एक-एक रहस्य समझनेयोग्य है, सब अर्थ-गर्भ है। लोग कहते हैं 'प्रेमी तो केवल कल्पनाके जगत्‌में रहता है, वस्तुतः उसको भगवान् मिलते नहीं। वह केवल भगवान्‌की भावनाभर करता रहता है।' किंतु कल्पना या भावना तो मायाकी चीज है और भगवान् मायासे अतीत हैं। अतः यह भाव-जगत् माया-जगत्‌की वस्तु नहीं। इसी प्रकार ध्येयाकार वृत्तिको ध्यान कहते हैं। जबतक वृत्ति टिकी है तबतक भाव-जगत्‌का अस्तित्व स्वीकार करें और जब वृत्ति हट जाय तो भाव-जगत्‌का अस्तित्व समाप्त हो जाय। ऐसी बात इस भाव-जगत्‌के साथ नहीं है। इससे वृत्तिका सम्बन्ध नहीं; क्योंकि वृत्तिजनित मानसमात्र

नहीं है। सत्य है—नित्य है। इसी प्रकार यह भाव-जगत् पांचभौतिक नहीं। पांचभौतिक वस्तु अनित्य है और भाव-जगत् नित्य है। अवश्य ही भाव-जगत्की सारी चेष्टाएँ—भावनाएँ प्राकृत जगत्के समान दिखायी देती हैं और प्राकृतिक शब्दोंसे, नामोंसे ही उनका निर्देश किया जाता है, परंतु वास्तवमें वे अप्राकृतिक हैं, भगवत्स्वरूप हैं।

व्रजकी जितनी लीला हैं, सारी भगवान् श्रीकृष्णके ११ वर्षकी उम्रसे पहले-पहलेकी हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें आया है कि मथुरासे जानेके बाद १०० वर्षोंतक गोपांगनाओंसे श्रीकृष्णकी भेंट नहीं हुई। मथुरा थी ही कितनी दूर, परंतु न तो गोपियाँ मथुरा गयीं और न भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें आये। गोपियाँ क्यों आयी नहीं और श्रीकृष्ण क्यों नहीं गये? केवल इसीलिये कि वहाँ स्व-सुखकी कल्पना नहीं, त्याग-ही-त्याग है। प्रियतम-सुख ही सर्वस्व है। गोपियाँ विरहसे अत्यन्त व्याकुल हैं, उनमें अत्यन्त मिलनोत्कण्ठा है, फिर भी गोपियाँ नहीं गयीं। तो क्या फिर मिलन हुआ ही नहीं? सच बात तो यह है कि उनके प्रियतम श्रीकृष्णका उनसे कभी वियोग ही नहीं हुआ। अन्तर केवल इतना ही हुआ कि ११ वर्षकी उम्रके बाद प्राकृतिक— पांचभौतिक जगत्के अनुरूप दीखनेवाली लीला नहीं हुई। भगवान् सर्व-समर्थ हैं, चाहते तो वह भी कर सकते थे, किंतु लोकसंग्रहके लिये, आदर्शकी प्रतिष्ठाके लिये उसे नहीं किया। भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे गीतामें कहा है कि तीनों लोकोंमें मेरा कोई कर्तव्य न होने तथा मुझे कुछ भी प्राप्त करनेकी अपेक्षा न होनेपर भी लोकसंग्रहके लिये मैं विहित कर्म करता हूँ। इसी कारण पांचभौतिक जगत्के अनुरूप दिखलायी देनेवाली लीला मथुरा जानेके बाद उनमें दिखायी नहीं दी, अन्यथा, वहाँ तो नित्य लीला-विलास चलता ही रहता है। गोपियोंके परम प्रियतम श्रीकृष्ण भावरूपसे निरन्तर उनके पास रहे, वे व्रजसे गये ही नहीं। परंतु यह सब लीला अधिकारियोंके लिये ही थी। अत: बाहर इनका प्रकाश नहीं था। शिशुपालने भगवान् श्रीकृष्णको गाली दी; किंतु उसने इस गोपी-प्रेमकी बात नहीं कही। शिशुपालवाले जगत्को व्रजके भाव-जगत्की बातका ज्ञान ही नहीं था। हाँ, द्रौपदीको कुछ-कुछ पता

था। कौरव-सभामें विवस्त्र होते समय रक्षा पानेके लिये द्रौपदीने अपनी प्रार्थनामें '**द्वारकावासिन्**' के साथ-साथ '**गोपीजनप्रिय**' भी सम्बोधन किया था। यह महाभारतकी चीज है।

व्रजकी गोपियोंमें भाव-जगत्का नित्य एवं निरवधि विलास है। भाव-जगत् ऐसा है जहाँ कभी वियोग है ही नहीं। यह परम सत्य है कि भगवान् मिलकर कभी बिछुड़ते नहीं। मिलकर बिछुड़नेका क्रम प्रापंचिक जगत्की वस्तुका है। भाव-जगत्में बिछुड़नेकी कल्पना ही नहीं। भाव-जगत्में आमिलनकी जो लीला होती है, वह भी मिलनकी ही एक तरंग है। त्यागमय प्रेमकी पराकाष्ठापर नहीं पहुँचे हुए साधकोंको वह लीला नहीं दिखलायी देती। जहाँ मुक्तिका भी परित्याग हो जाता है वहाँ इस लीलाका विकास होता है। उसके अधिकारी अलग-अलग हैं।

भगवान् श्रीरामने अपनेको भगवान् कहा है, पर छिपे-छिपे। भगवान् राम मर्यादाका अधिक खयाल रखते हैं। कहीं देवताओंके सामने, कहीं ऋषियोंके सामने भगवान् रामने अपनेको भगवान् कहा है; परंतु भगवान् श्रीकृष्णने तो बारम्बार स्पष्ट कहा है। द्वारकामें श्रीकृष्ण भगवान् होकर भी द्वारकापति हैं। जहाँ ऐश्वर्य है, वहाँ वे मर्यादानुकूल कार्य करते हैं। द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णकी आदर्श दिनचर्या है। वे उषाकालमें शय्या त्यागकर ध्यान करते हैं। स्मृतियोंके अनुकूल शौच-स्नान करते हैं, संध्या करते हैं, अग्निहोत्र-गोदान करते हैं, अपने माता-पिताको प्रणाम करते हैं। जहाँ जैसी लीलाका प्रयोजन है, तदनुरूप आचरण करते हैं। जिस तरह प्रेमियोंके प्रेम-जगत्में प्रेमरसास्वादनके लिये प्रेमास्पद भगवान्का अवतरण होता है, वैसे ही लोकमें धर्मकी स्थापनाके लिये उनका अवतरण होता है। गीतामें कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(४। ८)

साधुका परित्राण, पापका विनाश और धर्मकी स्थापनाके लिये भगवान्

अवतार लेते हैं। जब जैसी लीला होती है, भगवान् वैसे बन जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी दामोदरलीलामें काम, क्रोध, लोभ, भय, पलायन, बन्धन सभी हैं और सच्चे रूपमें हैं। यह सब भगवान् श्रीकृष्णका न नाटक है, न मिथ्या विलास है और न दम्भ है। जैसी लीला करनी होती है, वे स्वयं ही वैसे ही बन जाते हैं। जिस समय ब्रह्माने बछड़ोंको तथा गोपबालकोंको चुरा लिया, उस समय भगवान् क्या-क्या नहीं बन गये? रस्सी, बछड़े, बालक, उनके कपड़े, काली कमली, जूती, लकुटी—सभी कुछ तो बने। भगवान् रासमें अगणित रूपोंमें प्रकट हो गये। यह रास भगवान्का अपनेमें अपना ही रसास्वादन है और है प्रेमियोंमें स्वरूपभूत रसका वितरण। यह भोगियोंका भोगरमण नहीं, यह योगियोंका आत्मरमण नहीं, यह है प्रेमस्वरूप, रसस्वरूप भगवान्का रस-वितरण तथा रसास्वादन-विलास।

रासमण्डलमें प्रवेश पानेके लिये देवता तथा ऋषियोंको गोपी बनना पड़ा। आकाशमें देवता और देवपत्नियाँ थीं, पर क्या वे रासकी अन्तरंग सभी लीला देख पायीं? अर्जुनको अर्जुनी बनना पड़ा। अर्जुनको इच्छा हुई कि इस प्रेम-जगत्का उन्हें दर्शन मिले। पहले तो भगवान् श्रीकृष्णने टलाया। बहुत आग्रह करनेपर मन्त्र बताया, उसका जप करना पड़ा, कात्यायनीकी उपासना करनी पड़ी, प्रेम-ह्रदमें स्नान करना पड़ा, फिर गोपीका रूप मिला, फिर सखी अर्जुनीको निकुंजमें ले गयी। अर्जुनी केवल एक रात ही वहाँपर रह पायी। पुनः ह्रदमें स्नान कराया गया, वे तुरंत अर्जुन बन गये और वापस भेज दिये गये। शिशुपाल आदिको इस रासका पता नहीं था, हाँ, भीष्मजीको थोड़ा-थोड़ा ज्ञान था। केवल अन्तरंग लोगोंको ही इसका पता था।

वियोगमें भी भगवान्का मिलन रहता है। भगवान्की वियोगलीलामें नित्य संयोग रहता है। प्रेमीसे पूछा जाय क्या चाहते हो, मिलन या वियोग। तो सच्चा प्रेमी विरह ही माँगता है। संयोगमें समय, स्थान, मर्यादा आदिके अनेक बन्धन हैं, पर वियोगमें तो नित्य-निर्बाध मिलन है। भगवान्को कहींसे आना नहीं पड़ता। वे तो नित्य सर्वत्र विराजमान हैं। प्रेमी भक्तका

हृदय उनका अनन्त प्रलोभनीय प्यारा आवास है। वे वियोग देते हैं विशेष रसास्वादनके लिये—प्रगाढ़ रसास्वादनके लिये। वस्तुतः देखा जाय तो प्रेमी साधकको वियोग होता ही नहीं।

प्रेममें भुक्ति-मुक्तिकी कोई आकांक्षा होती ही नहीं। आकांक्षाकी आपूर्तिमें दुःख होता है, क्योंकि उससे मनमें एक प्रतिकूलताका उदय होता है। वही दुःख है। प्रेम-जगत्‌में प्रतिकूलता होती ही नहीं। प्रेममें जो कहीं प्रतिकूलताकी लीला होती है, वह वस्तुतः महान् अनुकूलताकी एक लहरमात्र है, क्योंकि उस प्रतिकूलतामें प्रियतमका सुख निहित है जो परम अनुकूलताका स्वरूप है। मिलन और विरहके रूपमें ये तरंगें उठती-गिरती रहती हैं। भूख बिना भोजनका मजा क्या? विरहके बिना मिलनका आनन्द क्या? विरह और मिलन प्रेम-सरिताके दो तट हैं। इन्हींके बीचमें यह सतत प्रेमास्पद-सागरकी ओर प्रवाहित है। प्रेमास्पद प्रेमीके पाससे जाते ही नहीं। एक प्रेमिका गोपीने उद्धवसे अपना अनुभव बताया—'लोग भले कहें, पर मुझे तो प्रियतम कहीं जाते दीखते ही नहीं। लोग कहते हैं कि गये, पर वे तो सदा मेरे पास हैं। मैं अपने प्रत्यक्ष अनुभवके सामने दूसरोंकी बात कैसे मानूँ ! अब भ्रम किसको है, मुझको या लोगोंको? लोगोंको ही है। मैं तो नित्यमिलनानन्दका रस लेती हूँ।' विरहकी अनुभूति तत्त्वतः सुखरूप है!

प्रेमी मुक्तिकामी नहीं होता, क्योंकि प्रेममें अनन्त जीवन है और अनन्त सुख है। इस प्रेम-जीवनमें न कमी होती है और न रुकावट आती है। ज्ञानीके लिये जो प्राप्त करना था, वह प्राप्त हो गया। अब उसे कुछ भी करना-पाना नहीं—**'तस्य कार्यं न विद्यते।'** किंतु प्रेमीके जीवनमें प्रेमधारा सर्वदा बहती रहती है और बहती ही रहेगी। उस धारामें निरन्तर अधिकाधिक तीव्रता, मधुरता और उज्ज्वलता आती रहेगी।

प्रेमीमें यदि वस्तुतः कोई क्षोभ होता है तो अवश्य मानना चाहिये कि उसके अन्दर स्व-सुखकी कोई वासना अवश्य है। किसी कामनासे ही विक्षोभ उत्पन्न होता है। अवश्य ही कोई चाह है, भले ही वह छिपी

हो। वास्तवमें प्रेमी प्रत्येक द्वन्द्वमें पवित्र लीलानन्दका अनुभव करता है। वह सतत लीला-समुद्रमें निमग्न रहता है। प्रेमीके जीवनमें प्रत्येक चेष्टा सहज ही भगवत्प्रीत्यर्थ होती है।

जो भगवान्‌के प्रतिकूल हो, वही अविधि है और जो भगवान्‌के अनुकूल हो वही विधि है। यही भाव-जगत्‌का 'विधि-निषेध' है। वस्तुतः वहाँ सब कुछ भगवान्‌के मनका ही होता है। अवश्य ही मनरहित भगवान्‌में मनका पवित्र निर्माण प्रेमियोंमें दिव्य सुख वितरणके लिये ही होता है। प्रेमीके मनमें वही बात आती है जो प्रेमास्पदके मनमें है। जहाँ अन्तरंगता होती है, वहाँ प्रेमास्पदकी बात प्रेमीमें आने लगती है। मनमें स्वतः स्फुरित होने लगती है। फिर उसे कुछ कहना नहीं पड़ता । भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

मेरे मनकी बात तो तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं। परम प्रेमास्पद भगवान्‌के मनमें क्या है, इसको बस, सर्वत्यागी परम प्रेमी जानता है और जानकर वह प्रेमी वही बोलता है, वही करता है। वही उसकी विधि है, भाव-जगत्‌में शास्त्र देखनेकी फुरसत किसको है, कौन देखता है? तो क्या उनके आचरण शास्त्र-विरुद्ध हैं? नहीं। प्रेमीका प्रत्येक विचार तथा कर्म सहज ही भगवान्‌के अनुकूल, भगवान्‌के प्रीत्यर्थ होता है। वही तो शास्त्रका साफल्य है। वही तो शास्त्रका फल है। अतः प्रेमी जो करता है, वही विधि है, वही शास्त्र है। प्रेमीके अन्दर लौकिक प्रपंच नहीं है, कोई भी जागतिक वासना नहीं है। उसके अन्दर भगवान् हैं। उसकी चेष्टा, उसकी वाणी भगवान्‌की चेष्टा और वाणी है। वह तीर्थोंको तीर्थ बनाता है। जहाँ ऐसे प्रेमी संत रहे, वे तीर्थ बन गये। उन्होंने जो कुछ कहा वही शास्त्र बन गया और जो आचरण किया वही शास्त्रकी विधि बन गयी।

शास्त्रकी अन्य किसी विधिका बन्धन वहाँ नहीं है, क्योंकि वहाँ शास्त्रकी विधिका फल फलित हो चुका है। जो पवित्र प्रेम प्राप्त कर

चुके हैं, उनपर शास्त्रका बन्धन नहीं है। जबतक यह स्थिति नहीं आती है, तबतक शास्त्रकी प्रत्येक विधि लागू होगी। जो वासनाबद्ध मनुष्य प्रेमके नामपर शास्त्रकी मर्यादाका उल्लंघन करते हैं, विधिकी अवहेलना करते हैं, उनको अवश्य ही सावधान हो जाना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा किया तो हम भी ऐसा ही करें। यह मानना ठीक नहीं। भगवान्‌के सब आचरण अनुकरणीय नहीं हैं। भगवान्‌ने दावानल पान किया, क्या हम भी पान कर सकेंगे? भगवान्‌ने सात दिनोंतक कनिष्ठिका अंगुलिपर गोवर्धन-धारण किये रखा। क्या हम एक घंटे भी एक सेरका पत्थर भी अंगुलिपर रखकर खड़े रह सकते हैं? कलालके घरकी शराब और सुनारके यहाँ ढलाईघरका तप्त गला हुआ शीशा शंकराचार्यजी पी सकते हैं। पर क्या सभी पी सकते हैं? इसीलिये भगवान्‌के आचरणोंका अनुकरण नहीं, उनके आज्ञानुसार व्यवहार करना चाहिये। तैत्तिरीयोपनिषद्‌में आया है। भलीभाँति वेदाध्ययन सम्पन्न करानेके बाद आचार्य अपने विद्यार्थियोंको शिक्षा देकर कहते हैं—

'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि
त्वयोपास्यानि नो इतराणि'

हमारे आचरणोंमें भी जो-जो अच्छे आचरण हैं, तुमको उन्हींका सेवन करना चाहिये। दूसरोंका कभी नहीं। अत: गोपियोंकी नकल कभी नहीं करनी चाहिये। विशुद्ध प्रेमके नामपर मोहवश कभी भी अपनी वासनाको पूरी करनेका प्रयास नहीं करना चाहिये। असलमें साधकको तो विषयीसे उलटे चलना है। श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े ही सुन्दर सुकोमल-वदन थे। पर जब संन्यास ले लिया तो उन्होंने कठोर नियमोंका पालन किया और करवाया। श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े रसिक भी थे। जयदेवजीका गीत-गोविन्द सुना करते थे, पर साथ ही बड़े संयमी थे। श्रीरूप-सनातन आदि रसशास्त्रके महान् ज्ञाता थे। उन्होंने इसपर अनोखे ग्रन्थ लिखे हैं, पर साथ ही वे महान् विलक्षण त्यागी और विरक्त थे। अतएव इनसे हमें संयमकी शिक्षा लेनी चाहिये तथा संयमकी बात अपनानी चाहिये। चैतन्य महाप्रभुने अपने

शिक्षाष्टकमें बताया है कि भगवान्‌के कीर्तनका कौन अधिकारी है? जो राहमें पड़े हुए तिनकेसे भी अपनेको नीचा मानता हो, जो वृक्षसे भी अधिक सहनशील हो और जो मान न चाहकर दूसरोंको मान देता हो, उसीके द्वारा भगवान्‌का कीर्तन होता है और उसीको भगवान् मिलते हैं।

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

प्रेमके पवित्र क्षेत्रमें इन्द्रिय-भोगको स्थान नहीं है। भाव-जगत्‌में भोगको स्थान है, पर उसी पवित्र भोगको जो **'तत्सुखसुखित्वम्'** से अनुप्राणित हो। गोपियोंके जीवनमें भोग है, पर वह केवल प्रेमास्पद श्रीकृष्णके लिये है। वहाँ रागका एकमात्र विषय हैं श्रीकृष्ण। वहाँपर अनन्य अनुराग है। इतर रागके लिये स्थान नहीं। गोपियोंमें स्वाभाविक ही विषय-वैराग्य है। भगवान्‌के चरणानुरागमें सभी आसक्तियोंका अभाव हो गया है। साधकके लिये विशेष सावधानीकी आवश्यकता है।

साधकको जहाँ उसका साधन भारी मालूम होता है, उसमें मन ऊबता है, मनको बल लगाना पड़ता है और जो साधन सुखमय नहीं लगता, वह जबरदस्तीका साधन बहुत दिनोंतक टिकता नहीं। जिस साधनमें हर्ष होता है, सहज प्रसन्नता होती है, मनमें उमंग रहती है; उसीसे लाभ होता है। अन्यथा तमोगुण आ सकता है। फिर भी अच्छा काम जबरदस्ती किया जाय तो वह भी उत्तम ही है। पर मनसे हो, चावसे हो तो बहुत उत्तम। थोड़ा करे, पर उत्साहके साथ करे। सात्त्विक उत्साहसे किया गया साधन अधिक लाभकारी होता है।

भाव-जगत्‌के सम्बन्धमें आज संकेतसे कुछ कहा गया है। यह परम रहस्य है। व्रजकी गोपियोंकी रासलीला भाव-जगत्‌की लीला है। भागवतमें स्पष्ट लिखा है—

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्
स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः।

(१०।३३।३८)

गोपियाँ गयीं, पर गयीं नहीं। सब गोपोंने स्पष्ट देखा कि उनकी पत्नियाँ उनके पास घरमें सो रही हैं। वे गयीं ही नहीं। गोपियोंका पांचभौतिक शरीर घरपर ही रहा। रासमें गोपियोंका पवित्र चिन्मय नित्य सत्य भाव-वपु गया था। रास भावमयी गोपियोंकी भावमयी लीला है, पूर्णतः भाव-जगत्की लीला है।

यह भाव-जगत् अत्यन्त ही गुह्यतम, रहस्यमय और उच्चतम साधनालब्ध है। यह बड़ी ऊँची स्थितिकी चीज है। ऊँची-से-ऊँची साधनाकी चीज है। जहाँतक अपनी कल्पना पहुँचे, कीजिये। उतना ही सत्यका अनुभव होगा। अनन्त रसमय सत्यका अनुभव होगा। इस रसका कहीं अन्त नहीं है। नयी-नयी अनुभूतियोंकी उपलब्धि होगी। '**प्रतिक्षणवर्धमानम्**' यह रस प्रतिक्षण वर्धमान है। भाव-जगत्में आनन्द-ही-आनन्द है, सुख-ही-सुख है, रस-ही-रस है। भगवान् ही रस हैं— '**रसो वै सः**' और कहीं रस है नहीं। रसके नामपर सब ओर अरस (रसहीनता) है, कुरस (कुत्सित रस) है और विरस (विपरीत रस) है। हम रस मान लेते हैं, रसके बदले आग पी लेते हैं और जलते रहते हैं। रसकी शीतलताके बदले जलन मिलती है। जहाँ रस है वहाँ भगवान् हैं और जहाँ भगवान् हैं वहीं रस है। भाव-जगत्में रस-ही-रस है। यह भाव-जगत् न पांचभौतिक है न मानसिक है, न काल्पनिक है न औपचारिक है, न नाटकीय है, न केवल चिदानन्दाद्वैतमय है और इसे कामविलास मानना तो घोर पाप तथा पूर्ण भ्रम है। यह प्रेममय भगवान्का रस-वितरण है। यह पवित्र रसार्णव है, जिसका अवतरण केवल व्रजमें ही हुआ और व्रजकी गोपियोंमें ही हुआ—

'**यथा व्रजगोपिकानाम्**'

अधर्म तथा असत्कर्मका फल दैवी प्रकोप—जन-धनका नाश

वर्तमान कालको उन्नतिका युग कहा जाता है। और भौतिक विज्ञानमें नये-नये आश्चर्यजनक आविष्कारोंको देखकर इस दिशामें पर्याप्त उन्नति हुई है, यह कहना है भी सत्य ही; पर साथ ही सर्वत्र जो घोर चारित्रिक पतन हो रहा है और सभी प्रकारके आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक ताप-दुःख बढ़ रहे हैं यह भी प्रत्यक्ष है। भोगके साधन बहुत बढ़ रहे हैं; पर उन्हींके साथ-साथ चित्तकी अशान्ति तथा दुःखोंकी भी वृद्धि हो रही है। इसीसे अपराध भी बढ़ रहे हैं और दैवी प्रकोपका भी प्रबल प्रवाह बह चला है। महान् समुन्नत माने जानेवाले आजके प्रगतिशीलोंके आदर्श अमेरिका-यूरोपमें जघन्य अपराधोंकी संख्या, द्रुतगतिसे बढ़ रही है; यह अत्यन्त चिन्तनीय है। इसीके साथ-साथ राष्ट्रोंमें, देशोंमें, देशके प्रान्तोंमें, प्रान्तोंके निवासियोंमें, विभिन्न धर्म तथा जातिवालोंमें द्वेष, ईर्ष्या, परस्परके पतनका प्रयास, कलह, युद्ध, युद्धकी तैयारियाँ, नये-नये विध्वंसक शस्त्रास्त्रोंका निर्माण, मार-काट, हिंसा-हत्या, लूट-खसोट, छल-कपट, धोखा-विश्वासघात आदिका विपुल प्रयास और त्रास बढ़ रहा है; साथ ही जगह-जगह भूकम्प, भूस्खलन, अतिवर्षा, अवर्षा, दुर्भिक्ष, नये-नये रोग, वज्रपात, अग्नि-प्रकोप और भाँति-भाँतिकी दुर्घटनाएँ आदि दैवी प्रकोप बढ़ रहे हैं; मानव-जातिका जन-जन आज संत्रस्त, भयभीत, पीड़ित और दुःखी है; पर विमोहवश वह भी अपनेको उन्नतिके युगका मनुष्य मान रहा है। बेचारे पशु-पक्षियोंकी तो बुरी दशा है। स्वार्थी तथा हिंसक-हृदय मनुष्यने नीच स्वार्थवश इन मूक प्राणियोंपर जो दुःखों-कष्टोंके पहाड़ ढहाये हैं, इनपर मृत्युका जो भयानक तथा क्रूर चक्र चलाया है,

वह तो यथार्थमें मानवके हृदयको कँपा देनेवाला है। ये सब पीड़ा, दुःख, विनाश, विध्वंस उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं, पर हम दुःख-पीड़ासे कराहते हुए भी इनका कारण नहीं खोजते और वही काम करते जाते हैं, जिनसे ये सब घटनेके स्थानपर बढ़ते ही जा रहे हैं।

हमारे शास्त्रोंने इन विपत्तियों और बुराइयोंका कारण बतलाया है—एकमात्र 'अधर्म' को और 'असत्कर्म' को—जिसका राष्ट्रके, देशके, प्रान्तके, जातिके, समाजके अधिकारी, नेता, प्रधान पुरुष सेवन करते हैं और उनकी देखा-देखी जो सारी जनतामें फैल जाता है। महाभारत आदिमें इसका स्थान-स्थानपर उल्लेख है। हमारे आयुर्वेदके प्रसिद्ध ग्रन्थ चरकसंहिताके 'विमानस्थानम्' के तीसरे अध्यायका नाम है—

'जनपदोद्ध्वंसनीयं विमानम्।'

इसमें जनपदका ध्वंस करनेवाले कौन-कौनसे उत्पात होते हैं, उनका मूल कारण क्या है और उनके दूर करनेके क्या उपाय हैं? इसपर प्रकाश डाला गया है।

वहाँ बतलाया गया है—

जब मनुष्य प्रज्ञापराधी हो जाते हैं, उनकी बुद्धि दूषित हो जाती है, तब वे अधर्म तथा असत्कर्म करते हैं और देश, नगर, निगम (प्रान्त) तथा जनपदोंके प्रधान पुरुष (राजा, अध्यक्ष, शासक, नेता आदि) अधिकारीगण धर्मका उल्लंघन करके प्रजाके साथ अधर्मका व्यवहार करते हैं, तब उनके आश्रित तथा उपाश्रित पुरों (नगरों) के तथा जनपदों (गाँवों) के लोगोंमें तथा व्यापार-वाणिज्यके द्वारा आजीविका करनेवाले व्यापारी लोगोंमें भी अधर्म बढ़ जाता है। उससे धर्मका लोप हो जाता है। धर्मरहित जनोंकी देवतालोग (अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, सूर्य, चन्द्र आदि) देख-रेख करना छोड़ देते हैं, जिससे ऋतुएँ विकृत हो जाती हैं। मेघ ठीक जल नहीं बरसाते। कहीं अतिवर्षा, कहीं सूखा, कहीं विकारयुक्त वर्षा होती है।

स्वास्थ्य तथा जीवनप्रद वायु ठीक नहीं बहती। भूमि दूषित हो जाती है। लोगोंमें सत्य, शील, लज्जा, आचार, धर्म नष्ट हो जाते हैं। जगह-जगह भूकम्प, वज्रपात आदि होते हैं। नदी-तालाब आदि विक्षुब्ध होकर उछलते हैं, तो कहीं सूखने लगते हैं। चोर-डाकुओंकी भरमार हो जाती है। चारों ओर पीड़ितों तथा विपत्तिग्रस्तोंकी करुण-ध्वनि सुनायी देती है और अकालमृत्युकी संख्या बढ़ जाती है। अधर्मके ही कारण शस्त्रोंके द्वारा युद्ध करनेवाले देश एक-दूसरे देशपर चढ़ाई करके युद्ध छेड़ देते हैं। लोगोंमें लोभ, रोष, मोह और मान बढ़ जाते हैं। वे दुर्बलोंको कुचलकर स्वजनोंका तथा पर-जनोंका नाश करनेके लिये परस्पर आक्रमण करते हैं।

अधर्मके ही कारण मनुष्य अभिमानमें भरकर और मदमत्त होकर गुरुजनोंका, वृद्धोंका, सिद्ध-महात्माओंका, ऋषियोंका तथा पूज्य पुरुषोंका अपमान करके—उनके साथ दुर्व्यवहार करके उनसे अभिशप्त होकर (शाप प्राप्त करके) दुःखी तथा भस्म हो जाते हैं। इन सबमें 'अधर्म' ही कारण है। जबतक अधर्मका आश्रय रहेगा, जबतक भोग-सुखके लिये मनुष्य भयानक दुःखरूप भविष्यको भूलकर काम, क्रोध, लोभ, मान, द्वेष, द्रोह आदिका आश्रय करके अधर्म तथा असत्कर्म करता रहेगा, तबतक इन विपत्तियोंसे छुटकारा मिलना तो सम्भव है ही नहीं। इनका उत्तरोत्तर विस्तार होगा। आजके जगत्‌में वही हो रहा है।

इन विपत्तियों-बुराइयोंसे—जनपद-ध्वंसकारी इन उत्पातों-उपद्रवों तथा दैवी प्रकोपोंसे बचनेके उपाय क्या हैं? ऋषि कहते हैं—

सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
सद्‌वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥

संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः॥
इत्येतद्भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम्॥

(चरकसंहिता, विमानस्थानम् ३। १९—२२)

इसका विशद भावार्थ है—

'वाणी तथा आचरणमें 'सत्य' का सेवन; 'प्राणिमात्रपर दया' मनसे, वचनसे, शरीरसे किसी भी प्राणीको कभी न सताना, न किसीका अहित करना वरं उनके दुःखोंको दूर करनेका सहज प्रयास करना, बदला न चाहते हुए, आदरपूर्वक, भगवान्की वस्तु भगवान्के समर्पित हो रही है—ऐसा मानकर, अपने पास जो वस्तु हो उसका बिना अभिमानके जहाँ, जब जिसको जरूरत हो (देश, काल, पात्र देखकर) 'दान करना;' 'बलि' (पराया दुःख दूर करनेके तथा पर-सुख-सम्पादनके लिये अपने सुखको बलि दे देना—उसका त्याग करना अथवा देवता, ऋषि, पितृगण, मानव तथा इतर प्राणी—सबको हिस्सा देकर बचा हुआ अन्न खाना—बलिवैश्वदेवका नित्य अनुष्ठान करना) 'देवताओंका यथायोग्य—यथाविधि श्रद्धाभक्तिपूर्वक पूजन करना' 'सद्वृत्तका—सदाचार, शिष्टाचार-(व्यवहार-बर्तावमें विनय, नम्रता, सेवाभाव, सद्भाव) का पालन करना' 'प्रशम'— भोग-विलास, ऐश-आराम, इन्द्रिय-भोग-सुख, मान-सम्मान आदि विषयोंसे अपनेको बचाना; रोग, दुर्व्यवहार, असदाचार, असत्संग, निन्दा आदि बाहरी तथा काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, वैर, असूया, परदोष-दर्शन आदि भीतरी दोषोंसे तथा हिंसक प्राणियोंसे 'अपनी रक्षा' करना; रोगरहित स्वास्थ्यवर्धक 'कल्याणमय स्थानों तथा पदार्थोंका सेवन करना'; 'ब्रह्मचर्य' का (शास्त्रोक्तविधिके अनुसार अष्ट प्रकारके मैथुनका

त्याग) पालन करना, ब्रह्मप्राप्तिके साधनोंमें लगे रहना; 'ब्रह्मचारियोंकी सेवा'—उनका संग करना (भोगियोंका नहीं); 'धर्म-शास्त्रोंका सेवन'—श्रवण, मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये हुए 'महर्षियोंका सत्संग' करना, उनके साथ वार्तालाप करना; और 'वृद्ध पुरुषोंके द्वारा सम्मानित—उनके माने हुए धार्मिक तथा सात्त्विक पुरुषोंके पास उठना-बैठना'—ये आयुकी रक्षा करनेवाली (जनपदोंकी उत्पातोंसे रक्षा करनेवाली) औषध हैं—'

आज जो हमारे भारतमें भी चारों ओर भौतिक, दैविक तथा आध्यात्मिक उपद्रव हो रहे हैं, इसका कारण उपर्युक्त 'अधर्म और असत्कर्मका आचरण' ही है। बाढ़, भूकम्प और महामारी आदिसे जो एक साथ बहुत-से मनुष्योंकी मृत्यु और उनकी धन-सम्पत्तिका नाश होता है, यह भी सामूहिक—बहुत-से लोगोंका साथ मिलकर अधर्मके आचरण करनेका ही फल है। जैसे बहुत लोगोंका मिलकर कहीं आग लगाना, हिंसा-हत्या करना या लोगोंकी धन-सम्पत्तिको लूटना या नाश करना। ऐसे ही सामूहिक अपराधोंके फलस्वरूप प्रबल कर्म होनेपर इसी जन्ममें नवीन प्रारब्धके निर्माणद्वारा अथवा जन्मान्तरमें समूहरूपसे मृत्यु तथा धन-सम्पत्तिकी हानि होती है।

अतः सभीको व्यक्तिगत तथा सामूहिकरूपसे भी अधर्म तथा असत्कर्मका सर्वथा त्याग करके सावधानी एवं उत्साहके साथ धर्म तथा सत्कर्मका ही सेवन करना चाहिये।

क्रोधनाशका उपाय

छोटी हो या बड़ी—जब कामना पूरी नहीं होती, मनचाही बात नहीं होती तब कामनापर एक चोट लगती है और वह चोट खायी हुई कामना ही क्रोध बन जाती है। जबतक कामना है, तबतक क्रोध भी होगा ही; क्योंकि सारी कामनाएँ कभी भी, किसीकी भी पूरी नहीं होतीं। कामनाका नाश होता है—विषयासक्तिके न रहनेसे। अतएव विषयोंके बदले भगवान्‌में प्रीति की जाय और जो कुछ भी फल प्राप्त हो— मनचाहा या मनका न चाहा, अनुकूल या प्रतिकूल—उसे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् अपने सहज ही परम सुहृद् भगवान्‌का मंगल-विधान समझा जाय तो कामना यदि कहीं होगी भी तो उसपर चोट नहीं लगेगी—क्योंकि अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनोंमें भगवान्‌की मंगलमयताके दर्शनके कारण समता रहेगी। यों विषय-कामना अपने-आप ही नष्ट हो जायगी और क्रोधकी उत्पत्ति नहीं होगी। साधारणतया क्रोधसे बचनेका उपाय है—क्रोधके समय चुप रहना या भगवान्‌के नामका जप-कीर्तन करने लगना।

सुख चाहते हैं तो—

१–सादा–सीधा संयमित जीवन बिताइये और अपनी आवश्यकताओंको खूब घटा दीजिये।

२–प्रत्येक परिणाम या प्राप्त परिस्थितिको परम सुहृद् भगवान्‌का मंगल–विधान मानकर उसमें अनुकूल भावना कीजिये और संतुष्ट रहिये।

३–दूसरोंकी उन्नति देखकर मनमें प्रसन्न होनेकी तथा दूसरोंके दुःखको देखकर दयासे द्रवित होनेकी आदत डालिये।

४–जाति, विद्या, पद, अधिकार, स्वास्थ्य, स्वामित्व आदिका गर्व न करके किसीको अपनेसे नीचा मत समझिये।

५–प्रभुकी अहैतुकी अनन्त कृपापर विश्वास करके सदा अपने सुखमय उज्ज्वल भविष्यकी धारणा कीजिये।

६–विषयोंकी आसक्ति–कामना और ममता–अहंकारका यथासाध्य त्याग कीजिये।

७–निरन्तर प्रभुका परम कल्याणमय नाम–स्मरण करते रहिये।

॥ श्रीहरि: ॥

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी)-के अनमोल प्रकाशन

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
820	भगवच्चर्चा (ग्रन्थाकार)	355	महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर
050	पदरत्नाकर	356	शान्ति कैसे मिले ?
049	श्रीराधा-माधव-चिन्तन	357	दुःख क्यों होते हैं ?
058	अमृत-कण	348	नैवेद्य
332	ईश्वरकी सत्ता और महत्ता	337	दाम्पत्य-जीवनका आदर्श
333	सुख-शान्तिका मार्ग	336	नारीशिक्षा
343	मधुर	340	श्रीरामचिन्तन
056	मानव-जीवनका लक्ष्य	338	श्रीभगवन्नाम-चिन्तन
331	सुखी बननेके उपाय	345	भवरोगकी रामबाण दवा
334	व्यवहार और परमार्थ	346	सुखी बनो
514	दुःखमें भगवत्कृपा	341	प्रेमदर्शन
386	सत्संग-सुधा	358	कल्याण-कुंज
342	संतवाणी—ढाई हजार अनमोल बोल	359	भगवान्‌की पूजाके पुष्प
		360	भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं
347	तुलसीदल	361	मानव-कल्याणके साधन
339	सत्संगके बिखरे मोती	362	दिव्य सुखकी सरिता
349	भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति	363	सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ
350	साधकोंका सहारा	364	परमार्थकी मन्दाकिनी
351	भगवच्चर्चा	366	मानव-धर्म
352	पूर्ण समर्पण	526	महाभाव-कल्लोलिनी
353	लोक-परलोक-सुधार	367	दैनिक कल्याण-सूत्र
354	आनन्दका स्वरूप	369	गोपीप्रेम

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
368	प्रार्थना—प्रार्थना-पीयूष	381	दीन-दु:खियोंके प्रति कर्तव्य
370	श्रीभगवन्नाम	379	गोवध भारतका कलंक एवं गायका माहात्म्य
373	कल्याणकारी आचरण	382	सिनेमा मनोरंजन या विनाशका साधन
374	साधन-पथ—सचित्र	344	उपनिषदोंके चौदह रत्न
375	वर्तमान शिक्षा	371	राधा-माधव-रससुधा-(षोडशगीत) सटीक
376	स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी	384	विवाहमें दहेज—
377	मनको वश करनेके कुछ उपाय	809	दिव्य संदेश...........
378	आनन्दकी लहरें		
380	ब्रह्मचर्य		

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद	1214	मानस-स्तुति-संग्रह
819	श्रीविष्णुसहस्रनाम—शांकरभाष्य	1344	सचित्र-आरती-संग्रह
207	रामस्तवराज—(सटीक)	1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप
211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्	208	सीतारामभजन
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र	221	हरेरामभजन—दो माला (गुटका)
231	रामरक्षास्तोत्रम्	576	विनय-पत्रिकाके पैंतीस पद
1594	सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह	225	गजेन्द्रमोक्ष
715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्	1505	भीष्मस्तवराज
054	भजन-संग्रह	699	गंगालहरी
140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली	1094	हनुमानचालीसा—भावार्थसहित
142	चेतावनी-पद-संग्रह	228	शिवचालीसा
144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह	232	श्रीरामगीता
1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह	851	दुर्गाचालीसा
		236	साधकदैनन्दिनी

यो दर्शयत्यसन्मार्गं शिष्यैर्विश्वासितो गुरुः।
कुम्भीपाके स्थितिस्तस्य यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥
स किं गुरुः स किं तातः स किं स्वामी स किं सुतः।
यः श्रीकृष्णपदाम्भोजे भक्तिं दातुमनीश्वरः॥

(ब्रह्मवैवर्त०, ब्रह्म० ८। ५९—६१)

'जो मनुष्य पुत्र, स्त्री, शिष्य, सेवक और भाई-बन्धुओंको सन्मार्ग (भगवान्‌के मार्ग) में लगाता है, उसको निश्चय ही सद्‌गतिकी प्राप्ति होती है और जो गुरु अपने विश्वस्त शिष्यको (कोई भी गुरुजन अपने प्रिय सम्बन्धीको) असत् मार्ग (भगवद्विरोधी पाप-मार्ग) में लगाता है, वह जबतक चन्द्रमा-सूर्य रहते हैं तबतक कुम्भीपाक नरकमें रहता है। जो गुरु, पिता, स्वामी, पुत्र अपने शिष्य, पुत्र, सेवक (या पत्नी) तथा पिताको श्रीकृष्ण-चरणारविन्दकी भक्तिमें नहीं लगा सकता, वह गुरु, पिता, स्वामी और पुत्र ही नहीं है।'

अतएव साधक जब भगवत्कृपासे भोगोंके अभावरूप यथार्थ सुखकी स्थितिमें पहुँचता है और उसके मनसे भोगासक्ति चली जाती है, तब यह समझना चाहिये कि उसके सौभाग्य-सूर्यका उदय हुआ है। यही जीवनका वह शुभ तथा महान् मंगलका मुहूर्त है, जब कि अनादिकालसे विषयासक्तिमें फँसा हुआ जीव उसके बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌की ओर अग्रसर होनेके लिये प्रयत्नशील होता है। यही उसके लिये बड़भागीपनका क्षण है।

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥

नहीं तो—

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

आज यह विषयानुरागका मोह मिटा, बस, आज ही जीवनका यथार्थ शुभ क्षण आरम्भ हुआ है, आज ही विपत्तिके विकराल वनसे